आचाराङ्ग के सूक्त

अनुवादक :

श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल०

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता

◇

प्रथमावृत्ति

जून, १९६०

आषाढ़ २०१७

◇

प्रति संख्या

१५००

◇

पृष्ठ संख्या

३२०

◇

मूल्य :

तीन रुपये

◇

मुद्रक :

ओसवाल प्रेस

कलकत्ता—७

प्रकाशकीय

आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कंध भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से अङ्गों में प्राचीनतम माना गया है। इस पुस्तक में इस श्रुतस्कंध के सूक्तों का चयन है और साथ ही में उनका हिन्दी अनुवाद। आगम साहित्य-माला का यह प्रथम पुष्प है जिसे महासभा द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित कर रही है। ये सूक्त महावीर की मौलिक वाणी का मार्मिक सन्देश पाठकों को देंगे।

तेरापंथ द्विशताब्दी व्यवस्था उपसमिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता—१
२४ जून, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका

१ : आचाराङ्ग का स्थान

जैन-आगमों का नाम गणिपिटक रहा। गणिपिटक में बारह अङ्गों की गणना होती है। इन अङ्गों में आचाराङ्ग का स्थान प्रथम है[1]।

बारह अङ्गों में किसका क्या स्थान है यह बताने के लिए श्रुत पुरुप की कल्पना मिलती है जिसमें 'आचाराङ्ग' को दाहिने चरण और 'सूत्रकृतांग' को बायें चरण के रूप में निर्दिष्ट किया है[2]। शरीर में

१—समवायाङ्ग सू० १३६ : इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पन्नत्ते, तं जहा आयारे···दिट्ठिवाए

२—(क) नंदीसूत्र ४३ की चूर्णि पत्र ४७ :

पादयुगं जंघोरू गातदुगद्धं तु दोय बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारसअंगोसुतविसिट्ठो॥

(ख) समवायाङ्ग : १३६ की टीका : तत्र श्रुतपरम-पुरुषस्य अङ्गानीवाङ्गानि द्वादशाङ्गानि आचारादीनि यस्मिंस्तद् द्वादशाङ्गम्

पैरों का स्थान अनन्य है। आचाराङ्ग और सूत्रकृतांग ये श्रुत पुरुप के दो पैर हैं अर्थात् सारा श्रुत इन्हीं के आधार पर खड़ा है। उनके विना अन्य अङ्ग पंगु हैं। यह कल्पना भी आचाराङ्ग के महत्त्व को प्रदर्शित करती है।

निर्युक्ति के अनुसार तीर्थ-प्रवर्तन के समय तीर्थंकर सर्व प्रथम आचाराङ्ग का उपदेश करते हैं और उसके बाद अन्य अङ्गों का[१]। गणधर इस उपदेश से प्रथम आचाराङ्ग को सूत्रबद्ध करते हैं और फिर अन्य अगों को। दूसरे मत के अनुसार तीर्थंकर सर्व प्रथम पूर्वों का उपदेश देते हैं पर सूत्र-ग्रन्थन सर्व प्रथम आचाराङ्ग का ही होता है[२]। तीसरे मत के अनुसार सर्व प्रथम उपदेश और सूत्र रचना

१—(क) आ० नि० ८ :

सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए॥

(ख) आ० चू० : पत्र ३

सव्व तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढ़मं आइक्खंति ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडिए गणहरावि सुत्तं गुंथंति

२—नंदी चूर्णि पत्र ५६ : नंदी टीका पत्र १०७, नंदी वृत्ति पत्र २४०

पूर्वों की होती है पर स्थापना सर्व प्रथम आचाराङ्ग की होती है[1]। इसमें दो मत नहीं कि आचाराङ्ग को किसी-न-किसी दृष्टि से अङ्गों में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

निर्युक्तिकार ने आचाराङ्ग की महिमा उसे 'अङ्गों में प्रथम', 'प्रवचन का सार' कह कर की है और कहा है कि इसमें मोक्ष का उपाय बतलाया गया है[2]। साथ ही उसे 'वेद' शब्द से भी सम्बोधित किया है[3]।

आगमों में श्रुतज्ञान के दो भेद मिलते हैं—(१) अङ्गप्रविष्ट और (२) अङ्गबाह्य[4]।

१—समवायाङ्ग सूत्र १३६ की टीका

२—आ० नि० ६ :

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स ॥

३—आ० नि० ११ :

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।

४—नंदीसूत्र सू० ४४ : तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च

गणधरों के प्रश्न करने पर तीर्थंकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी का उपदेश करते हैं। उस पर से उत्पन्न श्रुत को अंगप्रविष्ट कहते हैं। विना प्रश्न अर्थ-प्रतिपादन के लिए उपदिष्ट श्रुत अङ्ग-बाह्य कहलाता है। अङ्गबाह्य और अंगप्रविष्ट की दूसरी परिभाषा इस प्रकार है : सर्व तीर्थंकरों के तीर्थ में अवश्य उत्पन्न होने वाला अर्थात् नियत श्रुत अंगप्रविष्ट और अनियत श्रुत—किसी तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाला और किसी के तीर्थ में नहीं होने वाला अंगबाह्य कहलाता है[1]। आचाराङ्ग अंगप्रविष्ट श्रुत की कोटि में आता है[2]।

२ : श्रुतस्कंधों की अपेक्षाकृत प्राचीनता

आचारांग दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है। पहले श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन रहे। अब आठ हैं[3]। दूसरे स्कंध में पांच चूला रही। अब

१—विशेषावश्यकभाष्य : बृहद्वृत्ति पत्र २८८

२—नंदीसूत्र सू० ४५ : से किं तं अंगपविट्ठं अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं तंजहा—आयारो १ ... दिट्ठिवाओ १२

३—निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय तक नौ अध्ययन रहे। शीलांकाचार्य 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन को लुप्त बताते हैं। निर्युक्ति के मत से यह अध्ययन ७ वाँ था। दूसरे मत के अनुसार ८ वाँ, और समवायाङ्ग सू० ९ के मत से ९ वाँ।

चार हैं[1]।

दूसरे श्रुतस्कंध में कुल १६ अध्ययन हैं। इन अध्ययनों में से प्रत्येक को 'आचाराग्र' कहा गया है। आचाराग्रों का समूह होने से दूसरे श्रुतस्कंध का नाम 'आचाराग्र' मिलता है।

प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययनों में से प्रत्येक का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अध्ययनों का संग्रह होने से प्रथम श्रुतस्कंध का नाम ब्रह्मचर्य मिलता है।

प्राचीन उल्लेखों से पता चलता है कि मूल आचाराङ्ग प्रथम श्रुतस्कंध प्रमाण था। द्वितीय श्रुतस्कंध बाद में उसमें जुड़ा[2]। निर्युक्तिकार कहते हैं—"वेद—आचार—ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययनात्मक है जिसमें अठारह हजार पद हैं। वह बाद में पंच चूला

१—निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय पांचवीं चूला रही। उसके बाद लुप्त हो गई। इस चूला के दो नाम मिलते हैं— (१) निशीथ और (२)। आचार प्रकल्प (आ० नि० २९७ टीका)

२—आ० नि० १२ :

आयारग्गाणत्थो बंभचेरेसु सो समोयरइ।
सोऽवि य सत्थपरिण्णाए पिंडिअत्थो समोयरइ॥

सहित हुआ जिससे पद-परिमाण में वह 'वहु' और 'वहुतर' हुआ[1] ।" 'वहु' और 'वहुतर' शब्द पर टीका करते हुए शीलाङ्क लिखते हैं : "चार चूलिकात्मक श्रुतस्कंध के प्रक्षेप से उसका परिमाण वहु और पाँचवीं चूला निशीथ के प्रक्षेप से उसका परिमाण वहुतर हुआ[2] ।" निर्युक्तिकार अन्यत्र लिखते हैं : "शस्त्र-परिज्ञा आदि नौ अध्ययन है उतना ही आचार (अङ्ग) है । शेष आचाराग्र है[3] ।" जो बातें

१—आ० नि० ११ :

णववंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ ।
हवइ य सपंचचूलो बहुवहुतरओ पयग्गेणं ॥

२—आ० नि० ११ की टीका :

तत्र अध्ययनतो नवब्रह्मचर्य्याभिधानाध्ययनात्मकोऽयं पदतोऽष्टादशसहस्रात्मको 'वेद'···आचार इति सपञ्चचूडश्च भवति···चतुश्चूलिकात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद्वहुः, निशीथाख्य पञ्चमचूलिकाप्रक्षेपाद्वहुतरः···पदाग्रेण—पदपरिमाणेन भवति

३— आ० नि० ३१-३२

सत्थपरिण्णा[1] लोगविजओ[2] सीओसणिज्ज[3] सम्मत्तं[4] ।
तह लोगसारनामं[5] धुयं[6] तह महापरिण्णा[7] य ॥
अट्ठमए य विमोक्खो[8] उवहाणसुयं च नवमगं भणियं ।
इच्चेसो आयारो आचारग्गाणि सेसाणि ॥

आचार में कहनी छूट गयीं अथवा जिनका विस्तार करना जरूरी था उनका समावेश इस 'अग्र' भाग में है, अतः वह आचाराग्र है[1]। निर्युक्तिकार ने इस विषय पर पुनः प्रकाश डालते हुए लिखा है : "आचार (अङ्ग) प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन जितना ही है। दूसरे श्रुतस्कंध के अध्ययन तो शिष्यों के हित के लिए, अर्थ का अधिक विस्तार करने के लिए ज्ञान वृद्ध स्थविरों ने पहले श्रुतस्कन्ध आचार के अध्ययनों से प्रविभक्त किये हैं[2]।" टीकाकार ने यह दिखाया है कि प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन के किस भाग या वाक्य पर से दूसरे श्रुतस्कंध के अध्ययन का विस्तार किया गया है। किस चूला का विषय

१—आ० टीका पत्र २८९

उपकाराग्रं तु यत्पूर्वोक्तस्य विस्तरतोऽनुक्तस्य च प्रतिपादनादुपकारे वर्त्तते तद्—यथा दशवैकालिकस्य चूडे, अयमेव वा श्रुतस्कन्ध आचारस्य।

२—आ० नि० २८७।

थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहियं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो आचारंगेसु पविभत्तो॥
टीका—स्थविरैः श्रुतवृद्धैः चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानीति।

कहाँ से लिया गया है इसका विस्तार निर्युक्ति में भी है[१]। आचाराङ्ग चूर्णि और टीका में प्रथम श्रुतस्कंध के अन्तिम वाक्य को अन्तिम मङ्गल माना है[२]। इससे भी यह सिद्ध होता है कि मूल आचारांग नौ अध्ययन में परिमित रहा।

जेकोबी ने लिखा है: "प्रथम श्रुतस्कंध आचारांग का प्राचीनतम भाग है; संभवत: यही मूल प्राचीन आचारांग सूत्र है जिसके साथ अन्य कृतियाँ बाद में जोड़ी गईं[३]।" विंटरनिज लिखते

१—आ० नि० २८८-२९१

२—आ० टी० पत्र १ : प्रत्यूहोपशमनाय मंगलमभिधेयं तच्चादिमध्यावसान भेदास्त्रिधा, तत्रादिमङ्गलं'सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं', मध्यमङ्गलं लोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकसूत्रं 'से जहा केवि...सारक्खमाणे', अवसानमङ्गलं नवमाध्ययनेऽवसानसूत्रम् 'अभिनिव्वुडे अमाई आवकहाए भगवं समियासी।'

3. S. B. E. (Vol. XXII, Introduction p. XLVII) : The first book, then, is the oldest part of the Akaranga Sutra; it is probably the old Akaranga Sutra itself to which other treatises have been added.

हैं : "आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध बहुत बाद का है। यह केवल इतने मात्र से जाना जा सकता है कि दूसरे श्रुतस्कंध के अध्ययनों को 'चूला' कहा गया है। चूला अर्थात् परिशिष्ट[1]।"

द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम श्रुतस्कंध की अपेक्षा बाद का है परन्तु फिर भी वह बहुत प्राचीन है और निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय में वह आचारांग में समाविष्ट था इसमें कोई सन्देह नहीं।

३ : प्रतिपाद्य विषय :

प्रथम चूला में ७ अध्ययन हैं—जिनमें क्रमशः पिंडैपणा, शय्या--वसति, ईर्या--विहार, भाषा, वस्त्रैपणा, पात्रैपणा, अवग्रह-प्रतिमा के नियम हैं। इस चूला का नाम नहीं मिलता। दूसरी चूला में भी ७ अध्ययन हैं। जिनमें क्रमशः स्थान, निषीधिका, उच्चार-प्रस्रवण, शब्द, रूप, परक्रिया, अन्योन्यक्रिया विषयक नियम हैं। इस चूला का नाम सत्तिक्कया है। तीसरी चूला में एक ही अध्ययन है। इसमें भगवान महावीर का जीवन-चरित्र तथा पाँच महाव्रत और उनकी २५ भावनाओं का हृदयग्राही वर्णन है। यह

1. A History of Indian literature (Vol. II, p 437) : Section II of the Ayaranga is a much later work, as can be seen by the mere fact of the sub-divisions being described as Culas, i. e. appendices.

अध्ययन अधिकांश गद्य और कुछ पद्य में है। इसका नाम भावना है। चौथी चूला में भी एक ही अध्ययन है। इस चूला में १२ पद्य-मय गाथाओं में गंभीर उपदेश हैं। इस चूला का नाम विमुक्ति है। पाँचवी चूला का नाम निसीह (निशीथ) अथवा आयारपकप्प-आचारप्रकल्प है। यह लुप्त मानी जाती है।

इस तरह द्वितीय श्रुतस्कंध में मुख्यतः मुनि-आचार का वर्णन है। वह कैसा आहार ले, कहाँ से ले; उसकी शय्या-वसति कैसी हो; वह किस प्रकार विहार करे; कैसी भाषा बोले; कैसे और कितने वस्त्र रखे और कैसे उन्हें प्राप्त करे; उसके अवग्रह क्या हों, खड़े रहने के लिए वह कैसे स्थान का चुनाव करे; मल-मूत्र कहाँ कैसे विसर्जन करे आदि मुनि-आचार विषयक नियमों का उसमें विस्तृत विधान है।

जैसा कि पहले बताया है, पहले श्रुतस्कंध को 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ यहाँ 'संयम' है[1]। संयम का अर्थ है

१—आ० नि० २८

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव।
भावे उ वत्थिसंजम णायव्वो संजमो चेव॥

टि०: भावब्रह्म तु साधूनां वस्तिसंयमः, अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति अष्टादश भेदाः।

आत्म-निग्रह। प्रथम श्रुतस्कंध में मुनियों के यम-नियमों का उल्लेख नहीं है पर वहाँ व्यापक धर्म-भावना और जीवन-व्यापी समग्र संयम के सूत्र हैं। इस अध्ययन में गम्भीर तत्वचिंतन एवं साधक मुनि की साधना के मौलिक सूत्र हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का विषय संक्षेप में इस प्रकार है:

१—शस्त्रपरिज्ञा : इसमें जीवों के प्रति संयम का उपदेश है। जैन धर्म में छः प्रकार के जीव माने गये हैं। इन जीवों की हिंसा के परिहार का उपदेश इस अध्ययन में है।

२—लोकविजय : इस अध्ययन में भावलोक के विजय की बात आई है। जिनसे लोक—कर्म—का वन्ध होता है उन कषायादि पर विजय का उपदेश इस अध्ययन में है।

३—शीतोष्णीय : इसमें सुख-दुःख में तितिक्षा भाव रखने का उपदेश है।

४—सम्यक्त्व : इसमें सत्य में दृढ श्रद्धा रखने का उपदेश है।

५—लोकसार : इसमें लोक में सार क्या है इसका वर्णन है। इस अध्ययन का नाम आवंति[1] भी मिलता है।

६—धुत : इसमें निसंगता का उपदेश है।

१—समवायाङ्ग सू० ९

७—महापरिज्ञा[1] : इसमें मोहजन्य परिषह-उपसर्ग को सहन करने का उपदेश है। यह अध्ययन विच्छिन्न है। इसके विषय का प्रतिपादन निर्युक्तिकार ने इस वाक्य से किया है—'मोह समुत्था परीसहुवसग्गा'।

८—विमोक्ष[2] : इसमें निर्वाण—अन्तक्रिया—की विधि है।

९—उपधानश्रुत : इसमें भगवान् महावीर के दीक्षा के बाद के बारह वर्ष व्यापी दीर्घ तपस्वी जीवन का वर्णन है।

उपरोक्त नौ अध्ययनों के विषय की चर्चा करने वाली निर्युक्ति की गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जिअसंजमो[1] अ लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं[2]।
सुहदुक्खतितिक्खाविय[3] समत्तं[4] लोगसारो[5] य ॥ ३३ ॥
निस्संगया[6] य छट्ठे मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा[7]।
निज्जाणं[8] अट्ठमए नवमे य जिणेण एवंति[9] ॥ ३४ ॥

४ : उपनिषद् और आचाराङ्ग

प्रो० दलसुख मालवणिया लिखते हैं :

"वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुतियोंकी भरमार है, पर आध्यात्मिक चिन्तन बहुत कम मिलता है। उपनिषदों में आध्यात्मिक

१—इसके क्रम के विषय में देखिए भूमिका पृ० ४ पा० टी० ३

२—इसका नाम 'विमोह' (विमोहायण) भी मिलता है। सम० सू० ९

चिन्तन उपलब्ध अवश्य होता है परन्तु उसमें यह नहीं बताया गया है कि आत्म चिन्तन-मनन एवं साधना का मार्ग क्या है ? साधना के पथिक की दैनिक जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए या यों कहिए साधक कैसे चले, कैसे बैठे, कैसे खाये, कैसे पिए तथा किस प्रकार तन, मन और वचन की प्रवृत्ति को आध्यात्मिक साधना की ओर मोड़े, इसका कोई राजमार्ग नहीं बताया गया है।

"इस तरह उपनिषदों में ब्रह्मवार्ता तो है, पर ब्रह्मचर्य का पता नहीं लगता। चिन्तन मनन-करने का उपदेश तो दिया गया है, पर उसके लिए साधक के जीवन में किस तरह की योग्यता, गुण निष्पन्नता होनी चाहिए तथा कितना संयम होना चाहिए, उसका स्पष्ट विधि-विधान प्राचीन उपनिषदों में परिलक्षित नहीं होता। न संयम का विधि-विधान है, न त्याग-तप का ही।

"यदि आध्यात्मिक चिन्तन-मनन एवं संयमी जीवन का साक्षात्कार करना हो तो हमारे समक्ष श्रमण परम्परा का यह प्राचीन सर्वोत्कृष्ट काव्य आचारांग सूत्र है[१]।"

---

१ जैन-साहित्य का इतिहास : आचाराङ्ग सूत्र ('श्रमण' वर्ष ६ अङ्क १ पृ० ८)

५ : शैली और रचना-समय

आचारांग की शैली और उसके रचना-समय के बारे में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए डॉ० टी० एन० दवे एम० ए; बी० टी० (बम्बई); पीएच० डी० (लंदन) लिखते हैं :—

"दूसरा सारा स्कन्ध (अन्तिम काव्यमय अध्ययन बाद देने पर) मुख्यतः गद्य में लिखा हुआ है और वह गद्य जैन-बौद्ध शैली का अर्थात् आवर्तन पुनरावर्तन वाला तथा पर्याय प्रपर्याय के बाहुल्य वाला है। जबकि प्रथम स्कन्ध की शैली तद्दन जुदी है। यह शैली केवल गद्य की (अ० ६) और गद्य पद्य के मिश्रण की है। बड़े गद्य के टुकड़े के बाद बड़ा पद्य का टुकड़ा आता रहता है (अ० ३ उ० ३; अ० ८ वगैरह। इतना ही नहीं पर एक-एक, दो-दो गद्य खण्ड के बाद एक-दो पद्य आते हैं (अ० ३ उ० २; अ० ८ उ० ३ वगैरह)। कभी तो गद्य के बीच में पद्य का एक-दो पाद इस प्रकार मिला रहता है कि उसको अलग करना कठिन हो जाता है। (अ० ४ उ० ३ सू० २५८; अ० ३ उ० ४ सूत्र २१४-२१६)। यह मिश्र शैली बहुत पुरानी है। एतरेय ब्राह्मण[1], उपनिषद्[2],

---

१—शुनः शेपकी कथा का उदाहरण सबसे अधिक विदित है।

२—छान्दोग्य और बृहदरण्यक में यह स्थिति स्थान-स्थान पर है।

और कृष्ण यजुर्वेद[3] में यह शैली पूर्णता को पहुंची हुई दिखती है। जब कि गद्यमयी शैली अपेक्षाकृत आधुनिक है। दूसरे, जो पद्य खण्ड गद्यान्तर्गत भासित होते हैं वे वेदकालीन और वैसे दूसरे पुराने त्रिष्टुभ्[4], अनुष्टुभ्[5] जैसे छंदों की कड़ियाँ हैं। यह भी शैली की प्राचीनता की सूचना करता है[6]।······

"भाषा की दृष्टि से तपासने पर समस्त जैन आगम में श्री आचारांग की भाषा प्राचीनतम है।······

"श्रीगीता को पद्यात्मक उपनिषद् के काल में रखा जाता है, और श्री आचारांग सूत्र का श्री गीता के साथ इतना अधिक साम्य देखते हुए तथा शैली में उसका साम्य ब्राह्मण उपनिषद् के साथ देखते हुए श्री आचारांग सूत्र को जैन ग्रन्थों में सबसे पुराना मानने में और उसे विलम्ब से विलम्ब लगभग ई० पू० तीसरे शतक में

३—लगभग सारा कृष्णयजुर्वेद इस शैली में है।

४-५—अ० २ उ० ४ सूत्र १०८-११२ के टुकडे ऐसे ही हैं।

६—प्रो० शूबिंग ने ऐसे अंशों का उद्धार करने तथा उनके मूल की शोध करने का खूब प्रयत्न किया है और उसमें उनको खूब ही सफलता मिली है। देखिए Worte Mahaviras का उपोद्घात।

रखने में क्षति नहीं मालूम देती। यह उससे सदी, अर्ध सदी पूर्व का भी हो सकता है[७]।"

इस पुस्तक में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के सूक्तों का संग्रह है। साथ में उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। हिन्दी अनुवाद में गूढ़ अर्थ को वहीं पर पर्यायवाची शब्द व वाक्य द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न रहा है। वाक्यों के टुकड़े और उनका सम्बन्ध अपने चिन्तन के अनुसार निर्धारित किया है। इस दृष्टि से अन्य अनुवाद और इस अनुवाद में मौलिक अन्तर भी पाठकों को दिखाई देगा। आचारांग गूढ़ गंभीर सूत्र है। उसे हम अहिंसा और आचार की संहिता कह सकते हैं। अहिंसा का अत्यन्त गंभीर चिन्तन और उद्घोष इस अङ्ग में है। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पृथ्वी, अप्, वायु, तेज और वनस्पति काय सब जीवों को एक तुला पर तोल कर सबके प्रति समान अहिंसा भावना रखने का उपदेश इस अंग में स्थान-स्थान पर आया है और इसके प्रथम अध्ययन के ७ उद्देशक तो विशेष कर इसी विषय के विवेचन के लिए प्रयुक्त हैं। यह अंग सूक्तों का भण्डार है और

७—अचाराङ्ग सूत्र (संत वाल): गुजराती निर्देशन पृ० ४३-४४ तथा ४६ का अनुवाद—

इसके छोटे-छोटे वाक्य महान् जीवन-सूत्र से हैं। पाठक उन्हें पढ़ कर स्वयं इस बात का अनुभव कर सकेंगे।

डॉ० शुब्रिंग ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध का जर्मन भाषा में अनुवाद करते हुए उसका नाम Worte Mahaviras 'महावीर के शब्द' रक्खा है। उनका मत है कि इस श्रुतस्कंध में महावीर की मूल वाणी सुरक्षित है। इस विषय में श्री गोपाल दास जीवाभाइ पटेल लिखते हैं :—

"आचारांग के सम्बन्ध में तो जरूर कहा जा सकता है कि यदि किसी भी सूत्र में महावीर के अपने शब्द संगृहीत हुए हों ऐसा कह सकते हैं तो वह आचारांग है[1]।" इस तरह इस सूक्ति संग्रह में पाठकों को महावीर के अपने अर्थगौरवगंभीर वाक्यों का दर्शन हो सकेगा।

अन्त में मैं उन सब विद्वानों और प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ जिनकी रचना व प्रकाशनों का अवलोकन इस पुस्तक के सम्पादन में सहायक हुआ है। भाई रूपेन्द्र कुमार ने पाठ मिलाने और प्रूफ संशोधन के कार्य में जो सहायता मुझे दी है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

१—महावीरस्वामी जो आचारधर्म (आवृत्ति पहेली) के गुजराती उपोद्घात पृ० १४ का अनवाद।

पुस्तक सूची

इस पुस्तक के सम्पादन में जिन-जिन पुस्तकों का अवलोकन किया गया है, उनकी सूची इस प्रकार है :
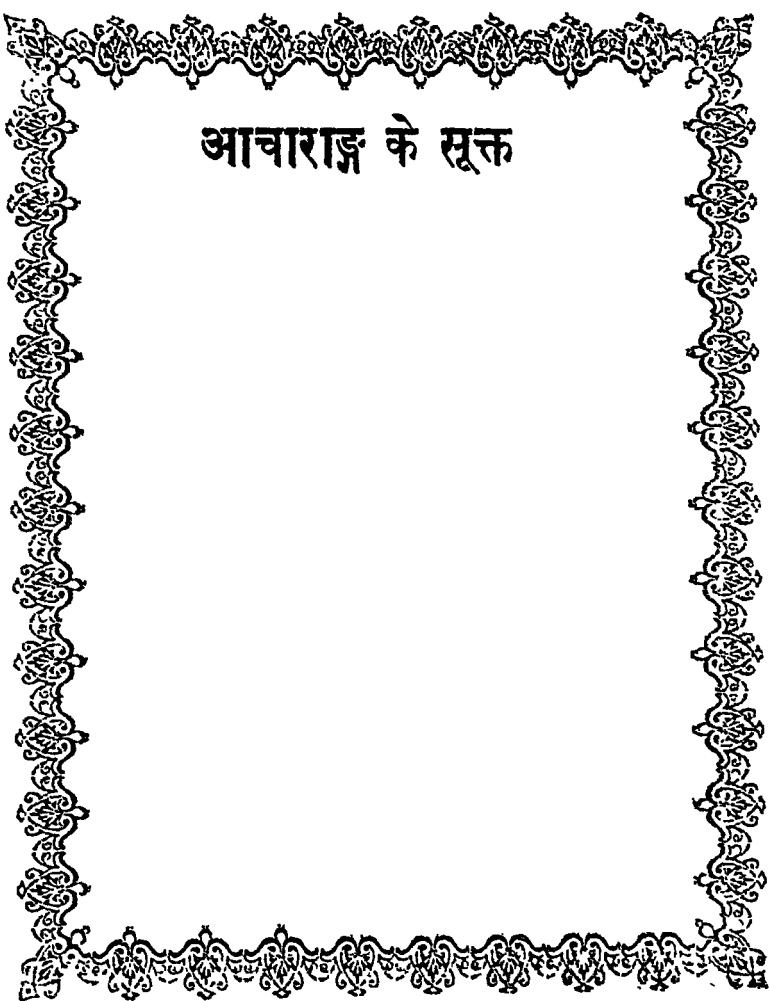
१ श्री आचारांग सूत्रम् (मूल, निर्युक्ति, टीका। प्रकाशक : श्री सिद्ध चक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई)

२ आचारांग सूत्र (मूल पाठ डाक्टर वाल्टर शुब्रिंग द्वारा संशोधित)

२ आचारांग चूर्णि

३ जैन सूत्र भाग १ (अंग्रेजी अनुवाद। अनु० हर्मन जेकोबी Sacred Books of the East Vol. XXII)

४ आचारांग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध का गुजराती अनुवाद, अनुवादक श्री संतबाल)

५ महावीरस्वामीनो आचार धर्म (गुजराती छायानुवाद : सम्पादक गोपालदास जीवाभाई पटेल)

६ आचारांग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कंध का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक मुनि श्री सौभाग्यमल जी)

७ आचारांग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध का वंगलानुवाद : अनु० श्री हीरा कुमारी बोथरा)

८ श्री आचारांग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कंध का हिन्दी अनुवाद।
अनु० पं० घेवरचन्द्र बांठिया)

९ जैन साहित्य का इतिहास : आचारांग सूत्र (प्रो० दलसुख मालवणिया; 'श्रमण' वर्ष ८ अं० १२ से)

१० आर्हत आगमोनुं अवलोकन याने तत्वरसिक चन्द्रिका (प्रणेता प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया एम० ए०)

११ आगमोनुं दिग्दर्शन (वही)

१२ A History of the Canonical Literature of the Jains वही)

१३ A History of Indian Literature VOL. II (by Maurice Winterni tz, ph. D)

१४ Some Jaina Canonical Sutras (by Bimala Charan Law, M. A., B. L., ph. D., D. Litt)

१५ समवायांग सूत्र

१६ नन्दी सूत्र

विषय-क्रम

आचाराङ्ग के सूक्त

सुयं मे आउसं !

तेणं भगवया एवमक्खायं :

मैं ने सुना है, आयुष्मन् !

उन भगवान् ने ऐसा कहा :

: १ :

आयावादी

१—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहो दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

२—एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए,

: १ :

आत्मवादी कौन ?

१—संसार में कई लोगों को—"मैं पूर्व दिशा से आया हूं, दक्षिण दिशा से आया हूं, पश्चिम दिशा से आया हूं, उत्तर दिशा से आया हूं, उर्ध्व दिशा से आया हूं, अधो दिशा से आया हूं या अन्य किसी दिशा अनुदिशा से आया हूं"—यह संज्ञा नहीं होती।

२—कइयों को—"मेरी आत्मा औपपातिक—पुनर्जन्म करने वाली—है अथवा नहीं है, मैं कौन था,

के अहं आसी? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि?

३—से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं, अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

४—एवमेगेसिं जं णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं।

५—से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी। (श्रु० १ अ० १ उ० १)

एवं यहाँ से च्यवकर परलोक में मैं क्या होऊँगा ?"— यह ज्ञान नहीं होता ।

३—स्वमति से, दूसरे के कहने से, अथवा दूसरे से सुनकर, मनुष्य फिर कभी—"मैं पूर्व आदि किसी दिशा से आया हूं, अथवा अन्य दिशा अनुदिशा से आया हूँ"—यह जानता है।

४—किसी किसी को—"मेरी आत्मा औपपातिक है—पुनर्जन्म करनेवाली है," तथा "जो इन दिशाओं अनु-दिशाओं से आता है तथा सब दिशाओं अनुदिशाओं में भ्रमण:करता है, वह मैं ही हूं"—यह ज्ञान होता है।

५—जिसे ऐसा ज्ञान होता है वही पुरुष आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, और क्रियावादी होता है।

: २ :

कम्मसमारंभा

१—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं,
० ,० , ० ,० ,
० ,० , करओ आवि
समणुन्ने भविस्सामि।

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

२—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरीसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणु-संचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणु-दिसाओ साहेति। अणेग रूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।

: २ :

कर्म-समारम्भ

१—मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए दूसरे का अनुमोदन किया ; मैं करता हूं, करवाता हूं, करते हुए का अनुमोदन करता हूं ; मैं करूँगा, मैं कराऊँगा, करते हुए का अनुमोदन करूँगा—लोक में सर्व कर्मसमारम्भ—क्रिया के प्रकार—इतने ही हैं। ये परिज्ञातव्य हैं—इन्हें जानना चाहिए।

२—निश्चय ही अपरिज्ञातकर्मा पुरुष ही है जो इन दिशाओं, अनुदिशाओं से आता है, सर्व दिशाओं अनुदिशाओं को प्राप्त करता है, अनेक प्रकार की योनियों का उपार्जन करता है तथा विविध प्रकार के स्पर्शों—दुःखों का प्रतिसंवेदन करता है।

३—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडि-ग्घायहेउं।

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमा-रम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति।

४—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारम्भा परि-ण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(श्रु० १ अ० १ उ० १)

३—अपने इस जीवन के लिए, परिवन्दन—यश के लिए, मान के लिए, पूजा—सत्कार के लिए, जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए तथा दुःख के प्रतिघात के लिए (मनुष्य उपरोक्त रूप से क्रियाओं में प्रवृत्त होता है।)

लोक में सर्व कर्मसमारम्भ—क्रिया की भावनाएँ—इतनी ही हैं। इन्हें जानना चाहिए।

४—लोक में, कर्मसमारम्भ के ये प्रकार जिसे ज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है। यही मैं कहता हूं।

: ३ :

पुढविकम्मसमारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

२—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेऊं, से सयमेव पुढविसत्थं समारम्भइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारम्भावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारम्भंते समणुजाणइ।

तं से अहियाए, तं से अबोहिए

: ३ :

पृथ्वीकायिक हिंसा

१—हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कोई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से, पृथ्वीविषयक कर्मसमारंभ करते हैं तथा पृथ्वीशस्त्र का समारंभ करते हुये पृथ्वी के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख-निवारण के हेतु, स्वयं पृथ्वीकायशस्त्र का समारम्भ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को अच्छा समझता है।

यह पृथ्वीकाय की हिंसा, करनेवाले के लिए अहितकर होती है, यह उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए

३—इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारम्भेणं पुढविसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

४—एत्थ सत्थं समारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णाया भवन्ति,

एत्थ सत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवन्ति।

५—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारम्भेज्जा, नेवण्णेहिं पुढविसत्थं समा-

निश्चय ही, यह पृथ्वीकाय का समारम्भ वन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा पृथ्वीकायविषयक कर्म-समारम्भ करता है तथा पृथ्वी शस्त्र का समारम्भ करता हुआ, वह पृथ्वी जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—पृथ्वीकाय के प्रति शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को ये सव आरंभ अज्ञात होते हैं।

पृथ्वीकाय के प्रति शस्त्र-समारंभ न करनेवालों को इन सव आरंभों का ज्ञान होता है।

५—यह जानकर, मेधावी न स्वयं पृथ्वी शस्त्रका समारम्भ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का समारम्भ

रम्भावेज्जा, नेवण्णे पुढविसत्थं समारम्भन्ते समणुजाणेज्जा।

६—जस्सेते पुढविकम्मसमारम्भा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(श्रु० १ अ० १ उ० १)

करवाये, और न इस शस्त्र का समारंभ करनेवालों को अच्छा समझे।

६—जिसको पृथ्वी-जीव विषयक कर्म-समारंभों का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है—ऐसा मैं कहता हूं।

: ४ :

उदयसकम्मसमारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्भेणं, उदयसत्थं समारम्भमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

२—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, से सयमेव उदयसत्थं समारम्भति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारम्भावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समारम्भन्ते समणुजाणइ,

तं से अहियाए, तं से अबोहिए

: ४ :

अप्कायिक हिंसा

१–हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से, अप् (पानी) विषयक कर्म-समारम्भ करते हैं तथा अप्शस्त्र का समारम्भ करते हुए, अप् के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन में, प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख-निवारण के हेतु, स्वयं अप्काय-शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारंभ करनेवालों को अच्छा समझता है।

यह अप्काय की हिंसा, करनेवाले के लिए, अहितकर होती है, यह उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्भेणं, उदयसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ

४—एत्थ सत्थं समारम्भमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति,

एत्थं सत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारम्भेजा णेवण्णेहिं उदयसत्थं समा-

निश्चय ही यह अप्काय का समारंभ बंधन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और निश्चय ही यह नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा अप्काय विषयक कर्म-समारंभ करता है तथा अप् शस्त्र का समारंभ करता हुआ, वह अप् जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—अप्काय में शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को ये सब आरंभ अज्ञात होते हैं।

अप्काय में शस्त्र-समारंभ न करनेवालों को इन सब आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—यह जानकर, मेधावी न स्वयं अप्जीवकाय के शस्त्रका समारम्भ करे, न दूसरों से इन शस्त्रोंका समारंभ

रंभावेज्जा, उदय सत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा ।

६—जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि । १।१ : ३

करावे, और न इन शस्त्रों का समारंभ करने वाले को अच्छा समझे।

६—जिसको अप्जीव विषयक कर्म-समारम्भों का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है—ऐसा मैं कहता हूं।

: ५ :

अगणिकम्मसमारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

२—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

तं से अहियाए, तं से अबोहिए।

: ५ :

अग्निकायिक हिंसा

१—हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से अग्नि विषयक कर्म-समारम्भ करते हैं तथा अग्नि शस्त्र का समारम्भ करते हुए अग्नि के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन में, प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख-निवारण के हेतु, स्वयं अग्निकाय-शस्त्र का समारम्भ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारम्भ करने वाले को अच्छा समझता है।

यह अग्निकाय की हिंसा, करने वाले के लिए, अहितकर होती है, यह उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

४—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति,

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारम्भेज्जा णेवण्णेहिं अगणिसत्थं

निश्चय ही, यह अग्निकाय का समारम्भ वन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा अग्निकाय विषयक कर्म-समारम्भ करता है तथा अग्नि शस्त्र का समारम्भ करता हुआ, वह अग्नि जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—अग्निकायमें शस्त्र-समारम्भ करने वालों को ये सव आरम्भ अज्ञात होते हैं।

अग्निकाय में शस्त्र-समारम्भ न करने वालों को इन सव आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—यह जानकर, मेधावी न स्वयं अग्नि-शस्त्र का समारम्भ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का समारम्भ करावे,

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूव-रूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

४—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति,

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणि-सत्थं समारम्भेज्जा णेवण्णेहिं अगणिसत्थं

निश्चय ही, यह अग्निकाय का समारम्भ वन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा अग्निकाय विषयक कर्म-समारम्भ करता है तथा अग्नि शस्त्र का समारम्भ करता हुआ, वह अग्नि जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—अग्निकायमें शस्त्र-समारम्भ करने वालों को ये सव आरम्भ अज्ञात होते हैं।

अग्निकाय में शस्त्र-समारम्भ न करने वालों को इन सव आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—यह जानकर, मेधावी न स्वयं अग्नि-शस्त्र का समारम्भ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का समारम्भ करावे,

समारम्भावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा,

६—जस्सेते अगणिकम्मसमारम्भा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति वेमि १।१ : ४

और न इस शस्त्र का समारम्भ करने वाले को अच्छा समझे।

६— जिसको अग्निजीव विषयक कर्म-समारम्भों का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है—ऐसा मैं कहता हूं।

: ६ :

वाउकम्म समारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउकायसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ

२—इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं, से सयमेव वाउसत्थं समारम्भति, अण्णेहिं वाउसत्थं समारम्भावेइ, अण्णे वा वाउकायसत्थं समारम्भन्ते समणुजाणइ।

तं से अहियाए, तं से अबोहिए

: ६ :

वायुकायिक हिंसा

१—हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से वायु विषयक कर्म समारंभ करते हैं तथा वायु-शस्त्र का समारंभ करते हुए, वायु के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन में, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख निवारण के हेतु वायुकाय-शस्त्र का समारम्भ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को अच्छा समझता है।

यह वायुकाय की हिंसा, करनेवाले के लिए, अहितकर होती है, यह उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारम्भेणं वाउकायसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

—

४—एत्थ सत्थं समारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा अपरिण्णायाभवन्ति।

एत्थ सत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरम्भा परिण्णाया भवन्ति।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउकायसत्थं समारम्भेज्जा णेवण्णेहिं वाउकाय-

निश्चय ही यह वायुकाय का समारम्भ वंध का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा वायुकाय विषयक कर्म-समारम्भ करता है तथा वायु-शस्त्र का समारम्भ करेता हुआ वह वायुकाय जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—वायुकाय में शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को ये सव आरम्भ अज्ञात होते हैं।

वायुकाय में शस्त्र-समारम्भ न करनेवालों को इन सव आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—यह जानकर मेधावी न स्वयं वायुजीवकाय-शस्त्र का समारम्भ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का

सत्थं समारम्भावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा,

६—जस्सेते वाउकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(श्र० १ : अ० १ उ० ७)

: ७ :

वणस्सइकम्मसमारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति।

२—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडि-घायहेउं, से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारम्भमाणे समणुजाणइ।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

: ७ :

वनस्पतिकायिक हिंसा

१—हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति विषयक कर्म-समारम्भ करते हैं तथा वनस्पति-शस्त्र का समारम्भ करते हुए, वनस्पति के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन में, प्रशंसा, सम्मान और पूजाके लिए, जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख निवारण के हेतु, स्वयं वनस्पतिकाय-शस्त्र का समारम्भ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को अच्छा समझता है।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गड्ढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं, वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति।

४—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवन्ति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

यह वनस्पतिकाय की हिंसा करनेवाले के लिए अहित-कर होती है, यह उसके लिए अबोधि का कारण होती है।

निश्चय ही यह वनस्पतिकाय-समारम्भ बन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा, मान, पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा वनस्पतिकाय विषयक कर्म-समारम्भ करता है तथा वनस्पति-शस्त्र का समारम्भ करता हुआ, वह वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—वनस्पतिकाय के प्रति शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को ये सब आरम्भ अज्ञात होते हैं।

वनस्पतिकाय के प्रति शस्त्र-समारम्भ न करनेवालों को इन सब आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइ सत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा,

६—जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे —त्ति बेमि।

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

५—यह जानकर मेधावी न स्वयं वनस्पति-शस्त्र का समारम्भ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का समारम्भ करावे, और न इस शस्त्र का समारम्भ करनेवाले को अच्छा समझे।

६—जिसको वनस्पति जीव विषयक कर्म-समारम्भों का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है—ऐसा मैं कहता हूँ।

: ८ :

तसकायकम्मसमारम्भ

१—अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेण तसकायसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति

२—इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्ख-पडिघायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारं-भति अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ ।

त्रसकायिक हिंसा

१—हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी कई इन विविध प्रकार के शस्त्रों से त्रस विषयक कर्म-समारम्भ करते हैं तथा त्रसकाय-शस्त्र का समारम्भ करते हुए त्रसकाय के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

२—मनुष्य, इस जीवन में, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म और मरण से छुटकारा पाने के लिए और दुःख-निवारण के हेतु, स्वयं त्रसकाय-शस्त्र का समारम्भ करता है, दूसरों से शस्त्र-समारम्भ करवाता है और शस्त्र-समारम्भ करने वालों को अच्छा समझता है।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

३—इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूव रूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं, तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति।

४—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारम्भमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

यह त्रसकाय की हिंसा, करनेवाले के लिए, अहितकर होती है, यह उसके लिए अवोधि का कारण होती है।

निश्चय ही यह त्रसकाय का समारम्भ वन्धन का कारण है, मोह का कारण है, मृत्यु का कारण है और यही निश्चय ही नरक का हेतु है।

३—प्रशंसा-मान-पूजा आदि भावनाओं में गृद्ध मनुष्य इन विविध शस्त्रों द्वारा त्रसकाय विपयक कर्म-समारम्भ करता है तथा शस्त्र का समारम्भ करता हुआ त्रस जीवों की हिंसा के साथ-साथ अन्य अनेक तरह के प्राणियों की भी हिंसा करता है।

४—त्रसकाय में शस्त्र-समारम्भ करनेवालों को ये सव आरम्भ अज्ञात होते हैं।

त्रसकाय में शस्त्र-समारम्भ न करनेवालों को इन सव आरम्भों का ज्ञान होता है।

५—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायंसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

६—जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे—त्ति बेमि।

(श्रु० १ : अ० १ उ० ६)

५—यह जानकर, मेधावी न स्वयं त्रस जीवकाय के शस्त्र का समारंभ करे, न दूसरों से इस शस्त्र का समारम्भ करावे, और न इस शस्त्र के समारम्भ करनेवाले को अच्छा समझे।

६—जिसको त्रस जीव विषयक कर्म-समारंभों का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है—ऐसा मैं कहता हूं।

: ६ :

सत्थपरिन्ना

१—संति पाणा पुढोसिया

(श्रु० १ : अ० १ उ० २)

२—से बेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे।

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए

पुढो सत्थेहिं विउट्टन्ति

एत्थऽवि तेसिं नो निकरणाए

इहं च खलु भो! अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया

सत्थं चेत्थ अणुवीइ पास, पुढो सत्थं पवेइयं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

: ६ :

शस्त्र-परिज्ञा

१—पृथ्वी में अलग अलग अनेक प्राणी हैं।

२—मैं कहता हूं—अप्काय के आश्रित अनेक जीव प्राणी हैं।

'हमें पीने और विभूषा के लिए कच्चा जल कल्पता है'—ऐसा मान अन्य तीर्थी भिन्न-भिन्न शस्त्रों द्वारा अप्काय के प्राणों को हरते हैं। इस विषय में उनके शास्त्र निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।

हे शिष्य। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ही साधुओं को जल जीवों का विवेक कहा गया है।

जलकाय के शस्त्रों को खोजकर देख। जलकाय के भिन्न-भिन्न शस्त्र कहे गये हैं।

३—जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे।

से बेमि—संति पाणा पुढवीनिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणिस्सिया कट्ठनिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, संति संपातिमापाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति।

(श्रु० १ : अ० १ उ० ४)

४—से बेमि इमंपि जाइधम्मयं एयंपि जाइधम्मयं; इमंपि वुड्ढिधम्मयं एयंपि वुड्ढि-

३—जो दीर्घलोकशस्त्र—वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्नि—को जानता है, वह अशस्त्र—संयम को जानता है; जो अशस्त्र संयम को जानता है वह अग्नि के स्वरूप को जानता है।

मैं कहता हूं पृथ्वी के आश्रय में, पत्तों के आश्रय में, गोबर के आश्रय में और कचरे के आश्रय में प्राणी हैं तथा सम्पातिम प्राणी हैं जो आकर अपने आप गिरते हैं। अग्नि से स्पृष्ट हो, ऐसे कितने ही प्राणी संघात को प्राप्त करते हैं, वहाँ संघात को प्राप्तकर कितने ही मूर्छित होते हैं और कितने ही मूर्छित हो वहाँ मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

४—मैं कहता हूं जैसे मनुष्य शरीर उत्पत्तिशील है, वैसे ही यह वनस्पतिकाय भी उत्पत्तिशील है; जैसे

धम्मयं ; इमंपि चित्तमंतयं एयंपि चित्तमंतयं ; इमंपि छिण्णं मिलाइ एयंपि छिण्णं मिलाइ ; इमंपि आहारगं एयंपि आहारगं ; इमंपि अणिच्चियं एयंपि अणिच्चियं ; इमंपि असासयं एयंपि असासयं ; इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं ; इमंपि विपरिणामधम्मयं एयंपि विपरिणाम धम्मयं ।

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

५—से बेमि संति मे तसा पाणा, तंजहा—अंडया पोयया जराउआ रसया संसेयया समुच्छिमा उब्भियया उववाइया ।

मनुष्य शरीर वृद्धिशील है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी वृद्धिशील है; जैसे मनुष्य शरीर चितवत् है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी चितवत् है; जैसे मनुष्य शरीर काटने पर कुम्हला जाता है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी कुम्हला जाती है; जैसे मनुष्य शरीर आहार करता है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी आहार करती है; जैसे मनुष्य शरीर अनित्य है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी अनित्य है; जैसे मनुष्य शरीर अशाश्वत है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी अशाश्वत है; जैसे मनुष्य शरीर ह्रास और वृद्धिशील है, वैसे ही वनस्पतिकाय भी ह्रास और वृद्धिशील है और जैसे मनुष्य शरीर परिणमनशील है वैसे ही वनस्पतिकाय भी परिणमनशील है।

५—मैं कहता हूं—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छनज, उद्भिज और औपपातिक—ये त्रस प्राणी हैं।

तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति।

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठि-मिंजाए

अट्ठाए अणट्ठाए
अप्पगे हिंसिसु मेत्ति वा वहंति
अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति
अप्पगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति।

(श्रु० १ : अ० १ उ० ६)

देख! विषयार्त्त मनुष्य सर्वत्र दूसरे प्राणियों को परिताप देते रहते हैं।

मैं कहता हूं—कोई इन्हें अर्चा के लिए हनन करता है, कोई इन्हें चर्म के लिए हनन करता है, कोई इन्हें मांस के लिए हनन करता है और कोई इन्हें शोणित के लिए हनन करता है।

इसी तरह हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्वी के लिए, पिच्छी के लिए, पूंछ के लिए, वाल के लिए, सींग के लिए, विषाण के लिए, दाँत के लिए, दाढ़ के लिए, नख के लिए, नसों के लिए, अस्थियों के लिए और अस्थि-मज्जा के लिए इनका हनन किया जाता है।

इसी तरह अर्थ-अनर्थ अनेक प्रयोजनों से इन्हें मारा जाता है।

कोई—इसने मुझे मारा—इस भावना से हिंसा करता है।

कोई—यह मुझे मारता है—इस भावना से हिंसा करता है।

कोई—यह मुझे मारेगा—इस भावना से हिंसा करता है।

६—तसंति पाणा पदिसो दिसासु
पहू एजस्स दुगुंछणाए,
आयंकदंसी अहियंति णच्चा ।

से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति,

(श्रु० १ : अ० १ उ० ७)

७—तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं छज्जीव निकायसत्थं समारम्भावेज्जा, णेवऽण्णे

६—प्राणी दिशा प्रदिशाओं में त्रास पा रहे हैं।

हिंसा से होने वाले आतंक को देखनेवाला हिंसा को अहितकर जानकर वायुकाय के आरम्भ से वचने में समर्थ हो सकता है।

मैं कहता हूं— सम्पातिम प्राणी हैं जो आघात पाकर गिर पड़ते हैं। वायुकाय के स्पर्श को पाकर वे जीव घायल हो जाते हैं। जो वहां घायल हो जाते हैं वे वहाँ मूच्छित्त हो जाते हैं। जो वहाँ मूच्छित हो जाते हैं, वे वहाँ मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

७—वुद्धिमान मनुष्य यह सव जानकर स्वयं छः जीवनिकाय शस्त्र का समारम्भ न करे, न दूसरों से छः जीवनिकाय शस्त्र का समारम्भ करावे और न छः जीव-

छज्जीवनिकाय सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे ति बेमि

(श्रु० १ : अ० १ उ० ७)

निकाय शस्त्र का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन करे।

जिस मुनि को छह जीवनिकाय शस्त्र के समारम्भ का परिज्ञान होता है—जिसने उसको जाना और छोड़ा है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है।

: १० :

एगेंदियवेयणा

अप्पेगे अंधमब्भे अप्पगे अंधमच्छे
अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे पायमच्छे
अप्पेगे गुप्फमब्भे अप्पेगे गुप्फमच्छे
अप्पेगे जंघमब्भे अप्पेगे जंघमच्छे
अप्पेगे जाणुमब्भे अप्पगे जाणुमच्छे
अप्पेगे उरुमब्भे अप्पेगे उरुमच्छे
अप्पेगे कटिमब्भे अप्पेगे कटिमच्छे
अप्पेगे णाभिमब्भे अप्पेगे णाभिमच्छे
अप्पेगे उदरमब्भे अप्पेगे उदरमच्छे
अप्पेगे पासमब्भे अप्पेगे पासमच्छे
अप्पेगे पिट्ठिमब्भे अप्पेगे पिट्ठिमच्छे

: १० :

एकेन्द्रियों की वेदना

जैसे काई व्यक्ति जन्मान्ध (वहरे, मूक, गूंगे)
पुरुष का भेदन करे, छेदन करे ;
उसके पैरों का भेदन करे छेदन करे ;
उसके गुल्फों का भेदन करे छेदन करे ;
उसकी जंघा का भेदन करे छेदन करे ;
उसकी जानु का भेदन करे छेदन करे ;
उसके उरु का भेदन करे छेदन करे ;
उसके कमर का भेदन करे छेदन करे ;
उसकी नाभि का भेदन करे छेदन करे ;
उसके पेट का भेदन करे छेदन करे ;
उसके पार्श्वों का भेदन करे छेदन करे ;
उसकी पीठ का भेदन करे छेदन करे ;

अप्पेगे उरमब्भे अप्पेगे उरमच्छे
अप्पेगे हिययमब्भे अप्पेगे हिययमच्छे
अप्पेगे थणमब्भे अप्पेगे थणमच्छे
अप्पेगे खंधमब्भे अप्पेगे खंधमच्छे
अप्पेगे बाहुमब्भे अप्पेगे बाहुमच्छे
अप्पेगे हत्थमब्भे अप्पेगे हत्थमच्छे
अप्पेगे अंगुलिमब्भे अप्पेगे अंगुलिमच्छे
अप्पेगे णहमब्भे अप्पेगे णहमच्छे
अप्पेगे गीवमब्भे अप्पेगे गीवमच्छे
अप्पेगे हणुमब्भे अप्पेगे हणुमच्छे
अप्पेगे होट्ठमब्भे अप्पेगे होट्ठमच्छे
अप्पेगे दंतमब्भे अप्पेगे दंतमच्छे
अप्पेगे जिब्भमब्भे अप्पेगे जिब्भमच्छे

उसकी छाती का भेदन करे छेदन करे ;

उसके हृदय का भेदन करे छेदन करे ;

उसके स्तनों का भेदन करे छेदन करे ;

उसके कंधों का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी भुजाओं का भेदन करे छेदन करे ;

उसके हाथों का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी अंगुलियों का भेदन करे छेदन करे ;

उसके नखों का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी ग्रीवा का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी दाढ़ी का भेदन करे छेदन करे ;

उसके ओष्ठों का भेदन करे छेदन करे ;

उसके दांतों का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी जीभ का भेदन करे छेदन करे ;

अप्पेगे तालुमब्भे अप्पेगे तालुमच्छे
अप्पेगे गलमब्भे अप्पेगे गलमच्छे
अप्पेगे गंडमब्भे अप्पेगे गंडमच्छे
अप्पेगे कण्णमब्भे अप्पेगे कण्णमच्छे
अप्पेगे णासमब्भे अप्पेगे णासमच्छे
अप्पेगे अच्छिमब्भे अप्पेगे अच्छिमच्छे
अप्पेगे भमुहमब्भे अप्पेगे भमुहमच्छे
अप्पेगे णिडालमब्भे अपेगे णिडालमच्छे
अप्पेगे सीसमब्भे अप्पेगे सीसमच्छे
अप्पगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए

(श्रु० १ : अ० १ उ० २)

उसके तालु का भेदन करे छेदन करे ;

उसके गले का भेदन करे छेदन करे ;

उसके गाल का भेदन करे छेदन करे ;

उसके कान का भेदन करे छेदन करे ;

उसके नाक का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी आँखों का भेदन करे छेदन करे ;

उसकी भृकुटि का भेदन करे छेदन करे ;

उसके ललाट का भेदन करे छेदन करे ;

उसके सिर का भेदन करे छेदन करे ;

उसे पीटे या प्राण रहित करे तो जैसे उसे पीड़ा होती है वैसे ही पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय स्थावर जीवों को होती है।

: ११ :

महावीरहिं

१—अदुवा अदिन्नादाणं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

२—लोगं च आणाए अभिसमेचा अकुओभयं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

३—से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा। जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

: ११ :

महापथ

१—जीवों की हिंसा अदत्तादान—चोरी—है।

२—तीर्थंकरों की आज्ञा—उपदेश—से जीव-समूह को जानकर अकुतोभयः का पालन करे—जिससे किसी भी प्राणी को भय न हो ऐसे अभयरूप संयम का पालन करे।

३—मैं कहता हूं—मनुष्य स्वयं जीवों का अपलाप न करे, न अपनी आत्मा का अपलाप करे। जो जीवों का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है। जो आत्मा का अपलाप करता है वह जीवों का अपलाप करता है।

४—निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परि-निव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि

(श्रु० १ : अ० १ उ० ६)

५—जे अज्झत्थं जाणइ,
से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ,
से अज्झत्थं जाणइ।
एयं तुलमन्नेसिं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ७)

६—जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ

(श्रु० १ : अ० १ उ० ४)

४—मैं चिन्तन कर, देख कर कहता हूं—हर प्राणी को सुख प्रिय है। सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्वों को असात अप्रिय, महाभय का कारण और दुःख रूप है।

५—जो अपने अन्तःस्थल को—अपनी सुख दुःख की भावना को जानता है, वह वाहर को—दूसरे की भावना को भी जानता है। जो दूसरे की भावना को जानता है वह अन्तस्थल की भावना को जानता है। 'सुख की भावना दूसरों में भी अपने समान है'—इस तुला का अन्वेषण कर।

६—जो प्रमादी है, जो विषयार्थी है वह निश्चय ही दण्ड देने वाला—जीवों को हनन करने वाला है।

७—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ४)

८—तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ४)

९—लज्जमाणा पुढो पास

(श्रु० १ : अ० १ उ० ४)

१०—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

७—संयती, सदा यत्नवान् और सदा अप्रमत्त वीर पुरुषों ने कर्मों को पराजय कर यह देखा है।

८—यह जानकर मेधावी निश्चय करे कि मैंने प्रमाद वश पहले किया वह अब नहीं करूंगा।

९—देख! हिंसा से शर्माने वाले विरले हैं।

१०—जो गुण है—विषयासक्ति है—वही आवर्त्त है—जन्म-जन्मान्तर का फेरा है; जो आवर्त्त है—वह विषयासक्ति है।

११—उड्ढं अवं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति

उड्ढं अवं पाइणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति सद्देसु आवि

एस लोए वियाहिए

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

१२—एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्ते आगार-मावसे

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

१३—से बेमि से जहावि अणगारे उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

११—ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् तथा पूर्वादि दिशाओं में देखता हुआ जीव रूप देखता है, सुनता हुआ जीव शब्द सुनता है।

ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक तथा पूर्वादि दिशाओं में आसक्त होता हुआ जीव रूप में आसक्त होता है, शब्द में आसक्त होता है।

यह मूर्च्छाभाव ही संसार कहा गया है।

१२—जो रूप और शब्दादि की आसक्ति से आत्मा को गुप्त नहीं रखता—नहीं बचाता—वह आज्ञा का उल्लंघन कर बार-बार विषय-स्वाद से वक्र आचरण वाला बन प्रमादी हो (पुनः) गृहवास करता है।

१३—मैं कहता हूं—जो ऋजु स्वभाव वाला है, (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-रूप) मोक्ष-मार्ग जिसे प्राप्त है और जो माया नहीं करता वही इन गुणों से मुनि कहा गया है।

१४—तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मइमं अभयं विदित्ता तं जे णो करए, एसोवरए एत्थोवरए एस अणयारेत्ति पव्वुच्चइ

(श्रु० १ : अ० १ उ० ५)

१५—जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वियहित्ता विसोत्तियं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

१६—पणया वीरा महावीहिं

(श्रु० १ : अ० १ उ० ३)

१४—अभय को विहित जानकर जो मतिमान् 'हिंसा नहीं करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण कर जीव-हिंसा नहीं करता वही उपरत—वास्तव में विरत है और जो हिंसा से उपरत है— विरत है वही अणगार कहा जाता है।

१५—विस्रोतसिका—शंका को दूर रख। जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है—गृह-त्याग कर प्रव्रज्या ली है, उसी श्रद्धा के साथ संयम का पालन कर।

१६—वीर पुरुष अहिंसा के महापथ पर चल चुके हैं।

: १२ :

लोगविजयो

१—जे गुणे से मूलट्ठाणे,
जे मूलट्ठाणे से गुणे।

२—इति से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते

३—तंजहा—माया मे, पिया मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूआ मे, ण्हुसा मे, सहिसयण संगंथसंथुआ मे, विवित्तुवगरणपरिवट्टण-भोयणच्छायणं मे।

इच्चत्थं गड्ढिए लोए वसे पमत्ते।

: १२ :

लोकविजय

१—जो गुण हैं—इन्द्रियों के शब्दादि विषय हैं वे मूलस्थान—संसार के मूलभूत कारण हैं। जो मूल-स्थान—संसार के मूलभूत कारण हैं वे गुण—शब्दादि विषय हैं।

२—इसी कारण जो विषयार्थी होता है वह बार-बार प्रमाद-ग्रस्त हो महान् परिताप से (संतप्त रहता है)।

३—जैसे—मेरी माता, मेरा पिता, मेरी भार्या, मेरे पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी पुत्र-वधू, मेरे मित्र, स्वजन, परिजन, परिचित, मेरे नाना उपकरण, सम्पत्ति, अन्न और वस्त्रादि—इस प्रकार प्राणी इन सब में आसक्त रहता है।

वह प्रमादी (निरन्तर चिन्ता में) वास करता है।

४—अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो

५—अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं

६—तंजहा—सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिणाण्णेहिं परिहायमाणेहिं, अभिकंतं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयन्ति

४—रात-दिन इनकी चिन्ता से सन्तप्त संयोगार्थी—नाना सुख संयोग की कामना करनेवाला, अर्थलोभी मनुष्य काल और अकाल की परवाह न कर, उद्यम करता हुआ, एकाग्र चित्त से, साहस पूर्वक – निर्भय रूप से—लूट-खसोट करता है और प्राणियों पर वार-वार शस्त्र चलाता है—उनकी हिंसा करता है।

५—निश्चय ही इस संसार में कितने ही मनुष्यों का आयुष्य अल्प—वहुत थोड़ा – होता है।

६—श्रोत्रेन्द्रियज्ञान के क्षीण होने पर, चक्षुज्ञान के क्षीण होने पर, नासिकाज्ञान के क्षीण होने पर, जिह्वाज्ञान के क्षीण होने पर, तथा स्पर्शेन्द्रियज्ञान के क्षीण होने पर अपनी आक्रान्त अवस्था को देख कदाचित् वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है।

७—जेहिं वा-सद्धिं संवसइ ते वि णं एगया णियगा पुव्विं परिवयन्ति सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा

८—नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा,

९—से ण हासाए, ण कीड्डाए, ण विभूसाए

१०—इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए

११—अन्तरं च खलु इमं सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए

७—जिनके साथ वह वसता है, कदाचित् वे ही आत्मीय जन पहले उसका परिहार करते हैं, अथवा वह ही उनका वाद में परिहार करता है।

८—उस समय (जव इन्द्रिय-वल क्षीण हो रहे हों) कुटुम्वी तुम्हारी रक्षा करने या तुम्हें शरण देने में समर्थ नहीं होते और न तुम ही उनकी रक्षा करने या उन्हें शरण देने में समर्थ होते हो।

९—वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास्य के ही, न क्रीड़ा के ही, न रति के ही और न शृङ्गार के ही योग्य रहता है।

१०—इस प्रकार तुम लम्वी यात्रा पर हो।

११—इस मनुष्य-भव को बीच का मौका—सुयोग—समझ धीर मनुष्य मुहूर्त भर भी प्रमाद न करे।

१२ वओ अच्चेति जोव्वणं व

१३—जीविए इह जे पमत्ता, से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुंपित्ता, विलुंपित्ता, उद्दवेत्ता, उत्तासइत्ता अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे

१४—उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचओ किज्जई इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति

१५—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं

१२—आयु और यौवन बीता जा रहा है।

१३—जो इस नाशवान् जीवन में प्रमादी होता है, वह घातक—घात करने वाला, छेदक—छेदन करने वाला, भेदक—भेदन करने वाला, लोपक—लूटने वाला, विलोपक—लूट-खसोट करने वाला, उपद्रवी—मारने वाला और त्रासक—त्रास उत्पन्न करने वाला, 'जो किसी ने नहीं किया वह मैं करूंगा' ऐसा मानता हुआ (अपनी इच्छा को साथ लिए हुए ही चल बसता है)।

१४—इस संसार में कई-कई असंयती मनुष्य बचे हुए अथवा अन्य द्रव्यों का अपने उपभोग के लिए संचय करते हैं, पर उपभोग काल के समय कदाचित् रोगग्रस्त हो पड़ते हैं।

१५—हर प्राणी के सुख-दुःख पृथक्-पृथक् हैं—यह

अणभिक्कंतं च खलु वयंसंपेहाए खणं जाणाहि पंडिए

१६—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं संमं समणुवासिज्जासि

(श्रु० १ : अ० २ उ० १)

१७—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के

जानकर तथा वाकी वची आयु को देखकर, हे पंडित ! इसी क्षण को (धर्म का) अवसर जान ।

१६—जव तक श्रोत्र-वल क्षीण नहीं होता, नेत्र-वल क्षीण नहीं होता, घ्राण-वल क्षीण नहीं होता, जिह्वा-वल क्षीण नहीं होता, स्पर्श-वल क्षीण नहीं होता—ये सारे वल क्षीण नहीं होते उसके पहले-पहले ही आत्मार्थ का सम्यक् रूप से—अच्छी तरह से—आराधन कर ।

१७—अरति—संयम के प्रति अरुचि भाव—को दूर कर, ऐसा करनेवाला मेधावी क्षण मात्र में मुक्त होता है ।

१८—अणाणाय पुट्ठावि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा

१९—अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति

२०—इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए

२१—विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहइ

१८—कितने ही मन्दबुद्धि मोह-ग्रस्त पुरुष अनाज्ञा से—धर्म के प्रति अरुचि भाव से—युक्त हो, संयम से पतित हो जाते हैं।

१९—हम अपरिग्रही बनेंगे—इस भावना से संयम में समुस्थित होकर कितने ही (मंद पराक्रमी पुरुष) प्राप्त-भोगों को ग्रहण करते—सेवन करते हैं। कितने ही (नामधारी) मुनि, वीतराग देव की आज्ञा के खिलाफ, विषय-भोगों को ढूंढ़ते रहते हैं।

२०—इस प्रकार पुनः-पुनः विषयों के भोग में आसक्त पुरुष न इस पार का रहता है न उस पार का। (वह न इस लोक का रहता है न परलोक का।

२१—जो पुरुष पारगामी हैं- लोभ-संज्ञा को पार कर चुके- वे विमुक्त हैं। वे लोभ के प्रति अलोभ से घृणा करते हुए, प्राप्त भोगों का सेवन नहीं करते।

२२—विणावि लोभं णिक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ

२३—पडिलेहाए णावकंखइ, एस अणगारित्ति पवुच्चइ

२४—से आयवले, से नाइवले,
से मित्तबले, से पिच्चबले,
से देववले, से रायवले,
से चोरबले, से अतिहिवले,
से किविणवले, से समणवले,
इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं

२२—जो विना किसी प्रकार के लोभ के, निष्क्रमण कर—प्रव्रज्या ग्रहण कर—(संयम का पालन करता है) वह कर्म-रहित हो सव जानता और देखता है।

२३—यह विचार कर लो कि जो (छोड़े हुए विषयों की) आकांक्षा नहीं करता, उसे अनगार कहा गया है।

२४—वह आत्मवल—शरीरवल, ज्ञातिवल, मित्रवल, प्रेतवल, देववल, राजवल, चोरवल, अतिथिवल, कृपणवल, श्रमणवल (इनको पाने के लिए) इन भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा दण्ड-समादान—हिंसा करता है।

२५—संपेहाए भया कज्जइ पावमुक्खुत्ति
मन्नमाणे, अदुवा आसंसाए

२६—तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं
एएहिं कज्जेहिं दंडं समारम्भिजा,
नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं
समारम्भाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं
दंडं समारम्भंतं पि अन्नं न
समणुजाणिज्जा

२७—एस मग्गे आरिएहिं पवेइए
जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि
(श्रु० १ : अ० २ उ० २)

२५—(नाना प्रकार के हिंसा कार्य) या तो (उपरोक्त) विचार से किये जाते हैं या भय से। या तो पाप से मुक्ति होगी, ऐसा मानता हुआ मनुष्य हिंसा-कार्य करता है, अथवा किसी आशा से।

२६—यह जान कर मेधावी पुरुष इन हिंसात्मक कार्यों के द्वारा स्वयं दण्डसमारम्भ न करे—स्वयं प्राणि-हिंसा न करे ; न इन कार्यों द्वारा दूसरों से दण्डसमारम्भ करावे—प्राणी-हिंसा करावे और न इन कार्यों द्वारा दण्डसमारम्भ करानेवाले—हिंसा करने वाले—दूसरे व्यक्ति को अच्छा समझे।

२७—यह अहिंसा का मार्ग आर्यों द्वारा प्रवेदित है—कहा गया है।

अतः कुशल पुरुष अपने को इस हिंसा में लिप्त न करे

२८—से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए,

नो हीणे नो अइरित्ते,

नोऽपीहए,

इय संखाय को गोयावाइ को माणावाई ?

कंसि वा एगे गिज्झा

२६—तम्हा नो हरिसे नो कुप्पे,

भूएहिं जाण पडिलेह सायं,

समिए एयाणुपस्सी

२८—यह जीव अनेक वार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ है और अनेक वार नीच गोत्र में।

इससे न कोई हीन हुआ और न अतिरिक्त वड़ा (जीव सदा असंख्यात प्रदेशी ही रहा और उसका भव-भ्रमण नहीं छूटा)।

(जिसका सम्वन्ध भव-भ्रमण के साथ है) उसकी स्पृहा मत करो।

यह विचार कर कौन अपने गोत्र का वाद करेगा—उसका ढिंढोरा पीटेगा? कौन उसका अभिमान करेगा?

वह किस एक वाद में गृद्ध होगा – आसक्त होगा?

२९—अतः (अपने उच्च गोत्र का) हर्ष न करे; न (नीच गोत्र के कारण) दूसरे किसी के प्रति कुपित हो।

विचार कर जान, सात—सुख सव जीवों को प्रिय है।

यह देखने वाला पुरुष समित हो (किसी का दिल दुखाने वाला व्यवहार न करे)।

३०—तंजहा—अंधत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुंटत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं ; सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ, विरूव-रूवे फासे पडिसंवेयइ

३१—से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे

३२—जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं

३०—अंधा होना, बहरा होना, गूंगा होना, काना होना, ठूंठा होना, कुवड़ा होना, वौना होना, श्याम होना और कोढ़ी होना (—यह सव अभिमान का ही कारण है)। प्रमाद के कारण ही जीव विविध-रूप—नाना योनियों में जन्म ग्रहण करता है, और अनेक प्रकार के स्पर्शों का संवेदन करता है (—नाना प्रकार की यातनाओं को भोगता है)।

३१—(जाति आदि मद से इस तरह हीनत्व प्राप्त होता है—) यह न समझने वाला (अभिमानी) पुरुष हतोपहत हो, जन्म-मरण के चक्र में आवर्तन—भ्रमण—करता है।

३२—इस संसार में क्षेत्र और गृहादि में माया—मोह करनेवाले मानवों को अपना जीवन पृथक् रूप से—विशेष रूप से—प्रिय होता है।

३३—आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह-हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति तत्थेव रत्ता।

न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ

३४—संपुण्णं वाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ

३५—इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुव-चारिणो। जाइमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे।

३६—नत्थि कालस्स णागमो

३३—वे रङ्ग-विरंगे वस्त्र, मणि, कुण्डल, स्वर्ण और स्त्री प्राप्त कर उन्हीं में आसक्त रहते हैं।

उन्हें यहाँ तप, दम, नियम—कुछ नहीं दिखाई देता।

३४—जीवन की कामना करने वाला निरा वाल (अत्यागी) और मूढ़ मनुष्य, भोगों के लिए प्रलाप करता हुआ विपर्यय भाव को प्राप्त होता है।

३५—जो मनुष्य ध्रुवचारी हैं वे सांसारिक विषय भोगों की आकांक्षा नहीं करते। मुमुक्षु जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर संयम में दृढ़ता पूर्वक विचरे।

३६—काल के लिए कोई समय असमय नहीं। काल से कोई मुक्त है, ऐसा नहीं है।

३७ सव्वे पाणा पियाउया,

सुहसाया दुक्खपडिकूला,

अप्पियवहा पियजीविणो,

जीविउकामा,

सव्वेसिं जीवियं पियं।

नाइवाइज्ज कंचणं

३८—मुणिणा हु एयं पवेइयं :

अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए,

अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए,

अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए,

३७—सर्व प्राणियों को आयु प्रिय है।

सुख सब को साताकारी—अनुकूल है और दुःख सब को प्रतिकूल।

वध सब को अप्रिय है और जीवन सब को प्रिय।

सर्व प्राणी जीने की कामना करते हैं।

सब को जीवन प्रिय है।

अतः किसी प्राणी की हिंसा मत करो।

३८—मुनि ने यह कहा है—

निश्चय ही ये जो अनोघंतर हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ को नहीं तिरते वे भवसागर को नहीं तर सकते हैं।

ये जो अतीरंगम हैं—इन्द्रियों के विषयों को पारकर तीर नहीं पहुंचते, वे संसार-सागर के तट पर नहीं पहुंच सकते।

ये जो अपारङ्गम हैं—राग-द्वेष के पार नहीं पहुँचते वे संसार-समुद्र का पार पाने में समर्थ नहीं हो सकते।

३९—आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे ण चिट्ठइ। वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ।

४०—उद्देसो पासगस्स णत्थि

४१—बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट-मणुपरियट्टइ

(श्रु० १ : अ० २ उ० ३)

४२—तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

४३—जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा

३९—अज्ञानी पुरुष तथ्य पाकर भी संयम-स्थान में नहीं ठहरता। वह वितथ्य को पाकर असंयम स्थान में ठहरता है।

४०—पश्यक—द्रष्टा—के लिए उपदेश नहीं है।

४१—मूर्ख, मोहग्रस्त और कामासक्त व्यक्ति का दुःख शमित नहीं होता। वह दुःखी व्यक्ति दुःखों के ही आवर्त्त में अनुपरिवृत्तित होता रहता है दुःखों के ही चक्र में जन्म-मरण धारण करता रहता है।

४२—फिर उसके कदाचित् एक ही साथ उत्पन्न अनेक रोगों का प्रादुर्भाव होता है।

४३—जिनके साथ मनुष्य वास करता है, वे ही निज के लोग उसकी पहले निन्दा करते हैं, अथवा वह ही पीछे उनकी निन्दा करता है।

४४—नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा

४५—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं

४६—भोगा मे व अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं

४७—तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेणं जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ, अप्पा वा वहुया वा, से तत्थ गढिए चिट्ठइ भोअणाए

(श्रु० १ : अ० २ उ० ३)

४४—रोग उत्पन्न होने पर वे तुम्हारी रक्षा करने में या तुम्हें शरण देने में समर्थ नहीं होते, और न तुम ही उनका त्राण करने या उन्हें शरण देने में समर्थ होते हो।

४५—सुख दुःख प्रत्येक को अपना-अपना जानकर (दूसरों के मोह से पाप कार्य मत कर)।

४६—इस संसार में मनुष्यों में एक-एक ऐसे होते हैं जो केवल भोगों का ही अनुशोच—उन्हीं की वाञ्छा करते रहते हैं।

४७—फिर वह द्विपद चतुष्पद को रख, उन्हें काम में लगा, तीन करण तीन योग से संचय करता है और संचित वस्तुओं की जो भी मात्रा होती है थोड़ी या अधिक उसमें वह भोग करने के लिए आसक्त रहता है।

४८—तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ।

४९—तं पि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से, विलुंपन्ति नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारडाहेण वा से डज्झइ।

५०—इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिया-समुवेइ

५१—आसं च छंदं च विगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु

४८—फिर कालान्तर में, बची हुई विविध प्रकार की वह भोग सामग्री इकट्ठी हो जाने से वह प्रचुर द्रव्य राशि वाला हो जाता है।

४९—उसको कभी दायदा—भागीदार वांट लेते हैं; कभी उस सम्पत्ति को चोर चुरा लेते हैं; कभी राजा उसे छीन लेता है; कभी वह नाश को प्राप्त होती है; कभी वह विनष्ट हो जाती है और कभी घर में अग्नि लगने से वह जल जाती है।

५०—इस प्रकार वह मूर्ख, दूसरों के लिये क्रूर कर्म करता हुआ उस दुःख से—धन के नाश होने से उत्पन्न दुःख से—मूढ़ वन विपर्यास को प्राप्त करता है।

५१—हे धीर पुरुष! तू आशा और स्वच्छंदता का त्याग कर। तू इस कॉंटे को रख कर, अपने ही आप दुःखी होता है।

५२—जेण सिया, तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा

५३—थीभि लोए पव्वहिए
ते भो ! वयन्ति 'एयाइं आययणाइं'
से दुक्खाए, मोहाए, माराए,
नरगाए नरगतिरिक्खाए।

५४—सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ,
उदाहु– वीरे अप्पमाओ महामोहे,
अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं

५२—जिससे—जिस धनादि से—तुम्हारी इन्द्रियों को सुखानुभव होता है, उससे तुम्हारी आत्मा को सुख नहीं होता।

जो मोहग्रस्त हैं वे इस तत्त्व को नहीं समझते।

५३—यह संसार स्त्रियों से प्रव्यथित है—हार चुका है। विषयार्थी मनुष्य स्त्रियों को सुख का आयतन—घर—कहते हैं। हे मनुष्यो! यह उनका कथन उनके लिए दुःख, मोह, मृत्यु, नरक तथा नरक-तिर्यच योनि का कारण होता है।

५४—सतत् मूढ़ मनुष्य अपने धर्म को नहीं जानता। वीर पुरुषों ने महामोह में—कांचन कामिनी में—अप्रमाद कहा है—प्रमाद न करने की शिक्षा दी है। अप्रमाद से शान्ति—मोक्ष—और प्रमाद से मृत्यु देख कर तथा इस शरीर को भंगुरधर्मी जान कर, कुशल पुरुष को प्रमाद

संपेहाए भेउरधम्मं संपेहाए, नालं पास

अलं ते एएहिं

एवं पस्स मुणी ! महब्भयं ।

५५—णाइवाइज्ज कंचणं

५६—एस वीरे पसंसिए, जे ण निव्विज्जइ आयाणाए

५७—न मे देइ ण कुप्पिज्जा
थोवं लद्धुं न खिंसए,
पडिसेहिओ परिणमिज्जा,
एयं मोणं समणुवासिज्जासि

से क्या प्रयोजन ? देख (ये अपार भोग्य वस्तुएँ भी तृष्णा-शान्ति के लिए) पर्याप्त नहीं हैं।

हे पुरुष ! फिर तुम्हें इनसे क्या प्रयोजन ?

हे मुनि ! इस प्रकार (भोगों में) महाभय देख।

५५ —(तुच्छ विषय भोग के लिए) किसी भी प्राणी की हिंसा मत कर।

५६ जो पुरुष संयम में खेदखिन्न नहीं होता, वही वीर और प्रशंसित है।

५७—'मुझे नहीं देता' इस विचार से मुनि को कोप—क्रोध—नहीं करना चाहिए। थोड़ा प्राप्त होने पर मुनि दाता की निन्दा न करे। मना कर देने पर मुनि लौट जाय। इस प्रकार मुनि मौन की—संयम की—सम्यक् प्रकार आराधना करे।

५८—जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति तंजहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं नाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए, संनिहिसंनिचओ कज्जइ।

इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए

५६—समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधिति अदक्खु

५८—लोगों द्वारा विविध शस्त्रों से कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। जैसे कि मनुष्य अपने लिए, पुत्र, पुत्रियों, पुत्रवधुओं, आत्मीय जनों, धात्रियों, राजा, दास, दासी, कर्मकार, कर्मकरी और अतिथियों के लिए, अपने भिन्न २ सम्वन्धियों के भेजने के लिए तथा शाम और प्रातःकाल के भोजन के लिए सन्निधि और सन्निचय करता है।

(इस तरह) संसार में कितने ही ऐसे मनुष्य हैं, जिनके भोजन के लिए (कर्म-समारम्भ किये जाते हैं)।

५९—संयम में समुत्थित—उद्यमी, आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी अनगार यही सन्धि है—निर्जीव आहार-पानी आदि पाने का ठिकाना है—यह देखनेवाला हो।

६०—से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ

सव्वामगंधं परिन्नाय, निरामगंधो परिव्वए।

६१—अदिस्समाणे कयविक्कएसु,

सेण किणे न किणावए किणंतं न समणुजाणइ

६२—से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने

६०—वह अकल्पनीय आहार ग्रहण न करे, न करावे और न करनेवालों की अनुमोदना करे।

सर्व अग्रहणीय को जानकर ग्रहणीय पर जीवन चलावे।

६१—अनगार क्रय-विक्रय में अदृश्यमान् हो—उससे दूर रहे।

वह न स्वयं खरीदे, न दूसरे से खरीदवाये और न कोई खरीदता हो उसे अच्छा जाने।

६२—जो भिक्षु कालज्ञ (भिक्षा के समय को जाननेवाला), बलज्ञ (भिक्षा देनेवाले की शक्ति को जाननेवाला), मात्रज्ञ (भिक्षा के प्रमाण को जाननेवाला), क्षणज्ञ (भिक्षा-प्राप्ति के क्षण—अवसर—को जाननेवाला), विनयज्ञ (भिक्षा के नियमों को जाननेवाला),

भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालाणुट्ठाइ अपडिण्णे, दुहओ छेत्ता नियाइ।

६३—वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा

६४—लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा

लाभुत्ति न मज्जिजा

अलाभुत्ति न सोइज्जा

स्वसमयपरसमयज्ञ—(स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्त को जाननेवाला) और भावज्ञ (दूसरे के अभिप्राय को जाननेवाला) होता है, जो परिग्रह में—भोगोपभोग सामग्री में—ममता नहीं करनेवाला होता है, जो यथा-काल अनुष्ठान करनेवाला होता है, जो प्रतिज्ञ नहीं होता वह राग-द्वेष को छेद कर मोक्ष मार्ग में आगे बढता है।

६३—भिक्षु वस्त्र, प्रतिग्रह—पात्र, कम्बल, पाद-पुंछनक—रजोहरण, अवग्रह—स्थान, कटासन—शय्या और आसन—गृहस्थों से याच ले।

६४—आहार लब्ध होने पर अनगार मात्रा—कितना लेना यह—जाने।

भिक्षु भिक्षा मिलने पर गर्व न करे।

न मिलने पर सोच न करे।

बहुंपि लद्धुं न निहे
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा
अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा
एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए
जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि

६५—कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडि-वूहगं

कामकामी खलु अयं पुरिसे,
से सोयइ जूरइ तिप्पइ पिट्टइ परितप्पइ

६६—आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ उड्ढं भागं जाणइ तिरियं भागं जाणइ

अधिक मिलने पर संग्रह न करे।

वह परिग्रहसे आत्मा को दूर रखे।

अन्यथा देखता हुआ (मूर्छा का) परिहार करे।

यह मार्ग आर्यों तीर्थकरों द्वारा प्रवेदित है। इसमें कुशल पुरुष कर्मबन्धन से लिप्त नहीं होता।

६५—कामनाएँ दुरतिक्रम हैं—उनका पार पाना दुष्कर है। यह जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता।

यह कामकामी—कामभोग की कामना करनेवाला—पुरुष निश्चय ही शोक करता है, विलाप करता है, मर्यादा से भ्रष्ट हो जाता है तथा दुःखी और सन्तप्त होता है।

६६—जो आयतचक्षु—दीर्घदर्शी और लोकदर्शी—लोक की विभिन्नता को देखनेवाला है वह लोक के अधोभाग, ऊर्ध्वभाग, और तिर्यग्भाग को उनके स्वरूप को—जानता है।

६७—गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणे

६८—संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं
एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए

६९—जहा अंतो तहा बाहिं
जहा बाहिं तहा अंतो
अंतो-अंतो पूइदेहंतराणि पासइ
पुढोविसवंताइं पंडिए पडिलेहाए

७०—से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं
पच्चासी

६७—वासना में गृद्ध मनुष्य इस संसार में परिभ्रमण करते हैं।

६८—इस मनुष्य-जन्म में संधि जानकर—उद्धार का अवसर जानकर—जो कर्मों से बद्ध आत्मप्रदेशों को मुक्त करता है वही वीर और प्रशंसा का पात्र है।

६९—यह शरीर जैसा अन्दर से असार है वैसा ही वाहर से असार है। और जैसा वाहर से असार है वैसा ही अन्दर से असार है।

ज्ञानी देह के अन्दर की अशुचि तथा वाहर स्राव करते देह के भिन्न-भिन्न मल-द्वारों को देखता है। पण्डित यह सव देख, शरीर के वास्तविक स्वरूप को समझें।

७०—वुद्धिमान् यह जानकर लार चूसनेवाला न हो—त्यागे हुए भोग पदार्थों का प्रत्याशी फिर से उनकी कामना करनेवाला न हो।

मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए

७१—कासंकासे खलु अयं पुरिसे बहुमाई

कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं

वेरं वड्ढेइ अप्पणो

जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव
पडिवूहणयाए
अमरायइ महासड्ढी

अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ

से तं जाणह जमहं बेमि।

वह अपनी भोग-विमुख आत्मा को फिर से भोगों में आसक्त न होने दे।

७१—निश्चय ही भोग और कषाय में आसक्त पुरुष अत्यन्त मायावी होता है।

अपने ही किये से मूढ़ मनुष्य पुनः विषयभोग का लोभ करता है।

विषयलोभी मनुष्य अपनी आत्मा के प्रति वैर बढ़ाता है।

यह जो वार-वार कहा जाता है वह संयम की वृद्धि के लिए कहा जाता है।

विषयों में अत्यन्त श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य अमरवत् आचरण करता है।

वह बाद में अपने को आर्त—दुःखग्रस्त देख त्राण का मार्ग नहीं जानता हुआ केवल क्रन्दन करता है।

इसलिए जो मैं कहता हूं उसे जानो।

७२—तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे

जस्सवि य णं करेइ

अलं बालस्स संगेणं

जे वा से कारइ बाले,

न एवं अणगारस्स जायइ

(श्रु० १ : अ० २ उ० ५)

७३—से तं संवुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा

७२ कई अपने को चिकित्सा में पण्डित कहते हैं। पर वे किसी ने नहीं किया वह करूँगा ऐसा मानते हुए हनन, छेदन, भेदन, ग्रन्थछेदन, उच्छेद और उपद्रव करते हैं।

ऐसे चिकित्सक जिसकी चिकित्सा करते हैं, (उसका बुरा होता है)।

ऐसे मूर्ख की संगत से क्या लाभ ?

जो ऐसे चिकित्सक से चिकित्सा कराता है वह भी मूर्ख है।

सच्चे अनगार की चिकित्सा ऐसी नहीं होती।

७३—वह आदेय को—संयम को—समझ उसमें समुत्थित हुआ है। इसलिए स्वयं पापकर्म न करे और न दूसरे से करावे।

७४—सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अन्नयरंमि कप्पइ

७५—सुहट्ठी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ

७६—सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ

७७—जंसिमे पाणा पव्वहिया

७८—पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ कम्मोवसंती

७९—जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ

७४—कदाचित् कोई छः में से किसी एक काय का समारम्भ करता है, वह छः कायों में से प्रत्येक का आरम्भ करनेवाला माना जाता है।

७५—विषय-सुख का अर्थी मनुष्य सावद्य कार्य करता हुआ स्वयंकृत पाप कर्म से मूढ़ बन विपर्यय को प्राप्त होता है।

७६—जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्म जन्मान्तर करता है।

७७—जिसमें ये प्राणी व्यथित हैं, (वह संसार स्वयंकृत ही है।)

७८—यह जानकर मुमुक्षु प्रमाद न करे। इसे ही परिज्ञा—विवेक कहा है और इसी से कर्मोपशान्ति होती है।

७९—जो ममत्व बुद्धि को छोड़ता है वह परिग्रह को

ममाइयं। से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं

८०—तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि

८१—नारइं सहई वीरे
वीरे न सहई रतिं
जम्हा अविमणे वीरे
तम्हा वीरे न रज्जइ

८२—सद्दे फासे अहियासमाणे निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स

छोड़ता है। जिसके परिग्रह नहीं हैं, वही मुनि दृष्टिपथ को—ज्ञानादिक मोक्षपथ को—देखनेवाला है।

८०—यह जानकर मेधावी (ममत्व बुद्धि को छोड़े)। बुद्धिमान लोक के स्वरूप को जान कर तथा लोकसंज्ञा को छोड़कर संयम में पराक्रम करे। यही मैं कहता हूं।

८१—वीर पुरुष संयम में अरति को सहन नहीं करता और न असंयम में रति को सहन करता है। चूंकि वीर पुरुष संयम में अन्यमनस्क नहीं होता, अतः असंयम में भी अनुरक्त नहीं होता।

८२—शब्द और स्पर्श को अच्छी तरह सहन करता हुआ, मुमुक्ष इस संसार में असंयम-जीवन में आनन्द-भाव को घृणा की दृष्टि से देखे।

८३—मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं

८४—पंतं लूहं सेवंति, वीरा सम्मत्त-दंसिणो

८५—एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि

८६—दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए

(श्रु० १ : अ० २ उ० ६)

८३—मुनि मौन को—असंयम से सम्पूर्ण उदासीन भाव को—ग्रहण कर कर्म-शरीर को धुन डाले।

८४—समदर्शी वीर प्रान्त—नीरस और रूक्ष भोजन का सेवन करते हैं।

८५—ऐसे ही मुनि संसार-सागर को तिरते हैं। वे ही उत्तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

८६—अनाज्ञा से चलनेवाला—स्वच्छन्दता से वर्तन करनेवाला—मुनि मोक्ष-गमन के योग्य नहीं होता।

ऐसा तुच्छ मुनि यथार्थ प्ररूपणा करने मे हिचकिचाता है।

८७—एस वीरे पसंसिए

अच्चेइ लोयसंजोग

एस नाए पवुच्चइ

८८—जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरन्ति

८९—इइ कम्मं परिन्नाय सव्वसो

८७—(जो मुनि आज्ञा के अनुसार वर्तन करता है वह सिद्धान्त की शुद्ध परूपणा करने में नहीं हिचकिचाता।) ऐसा मुनि ही वीर है और वही प्रशंसित है।

मुनि लोकसंयोग को—धन आदि वाह्य और राग द्वेषादि अन्तर ममत्व को—अतिक्रम करता है।

लोकसंयोग का अतिक्रम करना ही न्याय—सन्मार्ग—मुमुक्षुओं का आचार—कहा गया है।

८८—इस संसार में मनुष्यों को जो दुःख कहा गया है, कुशल पुरुष उस दुःख को ज्ञ परिज्ञा द्वारा जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका त्याग करते हैं।

८९—यह दुःख स्वकर्मकृत है, यह जानकर सर्वशः—करने, कराने और अनुमोदन रूप से आस्रव द्वार—दुःख उत्पत्ति के कारण मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का निरोध करे।

९०—जे अणन्नदंसी से अणण्णारामे
जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी

९१—जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ

९२—अवि य हणे अणाइयमाणे

इत्थं पि जाण सेयंति नत्थि

९०—जो अनन्यदर्शी है—जिसकी जिन द्वारा वताए तत्त्वार्थ के सिवाय अन्यत्र दृष्टि नहीं—वह अनन्यारामी है—वह परमार्थ के सिवा अन्यत्र आराम - विश्राम—रमण नहीं करता। जो अनन्यारामी है—परमार्थ के सिवा अन्यत्र आराम नहीं करता—वह अनन्यदर्शी—सम्यक् दृष्टि है।

९१—परमार्थ द्रष्टा जिस प्रकार पुण्यवान् को धर्म का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार तुच्छ को भी। और जिस प्रकार तुच्छ को धर्म कहते हैं उसी प्रकार पुण्यवान् को भी।

९२—सम्भव है अपने को अनादृत मान कोई साधु को पीटे।

ऐसा भाव उत्पन्न करनेवाली धर्म-कथा में श्रेय नहीं है, यह जानो।

६३—केयं पुरिसे कं च नए

६४—एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए

६५—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु
से सव्वओ सव्व परिन्नाचारी
ण लिप्पइ छणपएण वीरे

६६—से मेहावी अणुग्घायणखेयण्णे
जे य बन्धपमुक्ख मन्नेसी

६७—कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के

६८—से जं च आरभे जं च नारभे

९३—यह पुरुष कौन है, किसको नमस्कार करता है, (यह जान कर उपदेश दो) ।

९४—वही वीर है और प्रशंसित है जो कर्मों से बँधे हुए जीवों को मुक्त करता है ।

९५—उर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, मुमुक्षु उनके प्रति सर्वकाल में सर्वपरिज्ञाचारी होता है—विशिष्ट ज्ञान और संवरपूर्वक वर्तन करता है। ऐसा वीर हिंसा मे लिप्त नहीं होता।

९६—जो पुरुप वन्धन से मुक्त होने का उपाय खोजता है, वही मेधावी और कर्मों को विदीर्ण करने में निपुण है।

९७—कुशल पुरुष न तो वद्ध है और न मुक्त ही।

९८—तत्त्वज्ञ पुरुषों ने जो किया, वही साधक करे। उन्होंने जो नहीं किया, साधक भी उसे न करे।

अणारद्धं च न आरभे

६६—छणं छणं परिण्णाय
लोगसन्नं च सव्वसो
(श्रु० १ : अ० २ : उ० ६)

जो ज्ञानियों द्वारा अनारब्ध रहा है, उसे साधक न करे।

९९—हिंसा और हिंसा के कारणों को तथा लोक संज्ञा को जानकर उनका सर्वशः त्याग करे।

सीओसणिज्ज

१—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति

२—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं

३—समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए

४—जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं, नाणवं, वेयवं धम्मवं बंभवं

५—पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं मुणीति वुच्चे

सीतोष्णीय

१—अमुनि—अज्ञानीजन—सुप्त होते हैं; मुनि सदा जागते हैं।

२—लोक में दुःख सबको अहित कर जानो।

३—जीवों के उपर्युक्त स्वभाव को जानकर उनके प्रति शस्त्र से—हिंसा से—विरत हो।

४—जिस पुरुष को शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श—इन विषयों का स्वरूप भलीभाँति ज्ञात होता है वही आत्मवित् (आत्मज्ञ), ज्ञानवित् (ज्ञानी), वेदवित् (वेदज्ञ), धर्मवित् (धर्मज्ञ) और ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञ) कहलाता है।

५—जो प्रज्ञा के द्वारा लोक के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है, वही मुनि कहलाता है।

६—धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणई

७—सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ

८—जागरवेरोवरए

९—वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि

१०—जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ

६—धर्मज्ञ और सरल मुनि आवर्त्त और स्त्रोत-संग को अच्छी तरह जानता है।

७—शीतोष्ण त्यागी—सर्दी गर्मी में समभाव रखनेवाला वह निग्रन्थ अरतिरति—धर्म में अरुचि और अधर्म में रुचि उत्पन्न करनेवाले प्रसंगों को सहता हुआ—उनमें अडिग रहता है। कितने ही कठोर परिषह क्यों न आ पड़े, उनमें कष्ट नहीं मानता।

८—निग्रन्थ सदा जागरुक और वैर विरोध से निवृत्त रहता है।

९—हे वीर। ऐसा कर तू दुःखों से मुक्त हो सकेगा।

१०—जरा और मृत्यु के वश हुआ सतत मूढ़ मनुष्य धर्म को नहीं जानता।

११—पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए

१२—मंता य मइमं पास

१३—आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा

१४—माई पमाई पुण एइ गब्भं

१५—उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ

१६—अप्पमत्तो कामेहिं
उवरओ पावकम्मेहिं
वीरे आयगुत्ते खेयन्ने

११—कष्ट से आतुर प्राणियों को देखकर अप्रमत्त हो संयम ग्रहण कर।

१२—हे मतिमान् विचार कर सब देख।

१३—यह सारा दुःख आरम्भज—हिंसात्मक कार्यों से ही उत्पन्न—है, यह जानकर उनसे निवृत्त हो।

१४—मायावी और प्रमादी मनुष्य पुनः-पुनः गर्भावास करता है।

१५—शब्द और रूप आदि विषयों में उदासीन, सरल और जन्म-मरण से डरनेवाला पुरुष मृत्यु से छुटकारा पा जाता है।

१६—जो शब्द रूपादि कामभोगों में अप्रमादी होता है, जो पाप कर्मों से उपरत निवृत्त होता है वही वीर, गुप्तात्मा और खेदज्ञ है।

१७—जे पज्जवज्जायसत्थस्स खेयण्णे-
से असत्थस्स खेयण्णे
जे असत्थस्स खेयण्णे
से पज्जवज्जाय सत्थस्स खेयण्णे

१८—अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ

१९—कम्मुणा उवाही जायइ

२०—कम्मं च पडिलेहाए
कम्मं मूलं च छणं पडिलेहिय
सव्वं समायाय दोहि अन्तेहिं
अदिस्समाणे परिक्कमिज्जासि

२१—विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी

(श्रु० १ : अ० ३ उ० १)

१७—जो शब्दादि विषयों की कामना से जनित हिंसा को जानता है, वह संयम को जानता है। जो संयम को जानता है वह शब्दादि विषयों की कामना से उत्पन्न हिंसा को जानता है।

१८—कर्म रहित जीव के व्यवहार—संसार में जन्म मरणादि रूप व्यवहार—नहीं होता।

१९—कर्म से ही उपाधि उत्पन्न होती है।

२०—कर्म के स्वरूप को जानकर, कर्म की जड़ हिंसा को जानकर, सब उपाय ग्रहण कर दोनों अंतों—राग-द्वेष—से दूर रह मेधावी संयम में पराक्रम करे।

२१—लोक के स्वरूप को जान जो लोक-संज्ञा का परित्याग करते हैं, वे मेधावी हैं।

२२—जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पासे,
भूएहि जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं॥

२३—उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं,
आरम्भजीवी उभयाणुपस्सी।
कामेसु गिद्धा निचयं करंति,
संसिच्चमाणा पुनरिंति गब्भं॥

२४—अवि से हासमासज्ज,
हंता नंदीति मन्नई।
अलं बालस्स संगेण,
वेरं वड्ढेइ अप्पणो॥

२२—हे आर्य। संसार में जन्म और जरा को देख। विचार कर जान—सब प्राणियों को सुख प्रिय है। इसीलिए तत्त्वज्ञ सम्यकदृष्टि परमार्थ को जान पाप कर्म नहीं करता।

२३—इस संसार में मनुष्य के साथ मोह-पाश का छेदन कर। गृहस्थ, हिंसाजीवी और इस लोक तथा पर लोक में विषय-सुखों की कामना करनेवाला होता है। काम-भोग में गृद्ध जीव कर्मों का संचय करते हैं। और जो कर्मों का संचय करते हैं वे वार-वार गर्भावास करते हैं।

२४—पापी मनुष्य हँसी विनोद के वशीभूत हो जीवों का हनन करता है और इसे क्रीड़ा समझ कर आनन्द मानता है। ऐसे अज्ञानी मनुष्य का संसर्ग उचित नहीं। वह केवल अपना वैर ही बढ़ाता है।

२५—तम्माऽतिविज्जो परमंति णच्चा,
आयंकदंसी न करेइ पावं।
अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे,
पलिच्छिंदियाणं निकम्मदंसी॥

२६—एस मरणा पमुच्चइ

२७—से हु दिट्ठभए मुणी

२८—लोगंसी परमदंसी विवित्तजीवी
उवसंते समिए सहिए सया जये
कालकंखी परिव्वए

२५—आतंकदर्शी विद्वान्—पापों से भय खानेवाला तत्त्वज्ञ—परमार्थ को जान कर पाप नहीं करता। हे धीर पुरुष। तू मूलकर्म और अग्र कर्म को आत्मा से विच्छिन्न कर। इस तरह संसार—वृक्ष के मूल और अग्र को छिन्न कर तू निष्कर्मदर्शी—निष्कर्म आत्मा को देखनेवाला—बन।

२६—यह पुरुप—मूलकर्म और अग्रकर्म को छिन्न करनेवाला पुरुष—मरण से मुक्त हो जाता है।

२७—वही मुनि संसार के भय को देखने वाला होता है।

२८—लोक में परमार्थदर्शी, एकान्तसेवी, उपशान्त, समितियुक्त ज्ञानवान् मुनि संयम में सदा यत्नवान् हो काल की अपेक्षा करता हुआ जीवन वहन करे।

२९—बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं
सच्चंमि धिइं कुव्वहा

३०—एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं
झोसइ.

३१—अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे

३२—से अणवहाए अणपरियावाए
अण परिग्गहाए जणवयवहाए
जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए

३३—से केयणं अरिहए पूरित्तए

३४—आसेवित्ता एतमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया

२९—निश्चय ही मैंने आसक्तिवश बहुत पाप कर्म किये हैं—ऐसा सोचकर सत्य में धृति कर—दृढ़ हो।

३०—सत्य में रत बुद्धिमान् मनुष्य सर्व पाप कर्मों का क्षय कर देता है।

३१—निश्चय ही मनुष्य बहुचित्तवान् है—वह विविध कामनाएँ करता रहता है।

३२—इन दुष्पूर कामनाओं की पूर्ति के लिये वह दूसरों को मारने, दूसरों को दुःख देने, उन्हें अपने अधीन करने, जनपदों को मारने, जनपदों को परिताप देने और जनपदों को अपने अधीन करने के लिए तैयार रहता है।

३३—जो इस चित्त की कामनाओं को पूर्ण करने की इच्छा करता है वह चलनी को जल से भरना चाहता है।

३४—इन सब भोग्य वस्तुओं का आसेवन करनेवाले

तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी

३५—उववायं चवणं णच्चा,
अणण्णं चर माहणे।

३६—से न छणे, न छणावए, छणंतं नाणुजाणइ।

३७—निव्विद नंदिं, अरए पयासु

३८—अणोमदंसी
निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं।

३९—कोहाइमाणं हणिया य वीरे।
लोभस्स पासे निरयं महन्तं,

भी कई उन्हें छोड़ संयम के लिए उद्यत हुए हैं। अतः ज्ञानी उन्हें निस्सार देख उनका दूसरी वार सेवन न करे।

३५—अन्य प्राणियों की तो बात ही क्या देवों तक के उपपात और च्यवन—जन्म और मरण—जान कर मुनि! अनन्य में—संयम में—विचरण कर।

३६—मुमुक्षु किसी जीव की हिंसा न करे, न करावे और न हिंसा करते हुए का अनुमोदन करे।

३७—विषयानन्द से घृणा कर। स्त्रियों में आसक्त मत हो।

३८—मुमुक्षु उच्चदर्शी हो और पाप कर्मों से विरत हो।

३९—वीर पुरुष अति क्रोध और मान का हनन करे। वह लोभ का फल महान् नरक देखे। अतः वीर

तम्हा य वीरे विरए वहाए,
छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥

४०—गंथं परिण्णाय इहऽज्ज ! धीरे,
सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं,
नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि ॥
(श्रु० १ : अ० ३ उ० २)

४१—संधिं लोयस्स जाणित्ता

४२—आयओ बहिया पास
तम्हा न हंता न विघायए

पुरुष पाप का फल देख वृत्तियों से हलका बन वध—हिंसा से विरत हो और कर्म-स्रोत का छेद कर डाले।

४०—धीर पुरुष ग्रन्थि और स्रोत—संसार-प्रवाह—के स्वरूप को जानकर आज ही से इन्द्रिय-दमन करता हुआ विचरे। उन्मज्जन प्राप्त कर धीर पुरुष को इस मनुष्य जीवन में प्राणियों के प्राणों का समारम्भ—हनन—नहीं करना चाहिए।

४१—मनुष्य नर-भव को अवसर जानकर (प्रमाद न करे)।

४२—दूसरे प्राणियों को आत्मतुल्य देख।

अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न कर, न दूसरे से करा।

४३—जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए
पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं
किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?

४४—समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए

४५—अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए
कयाइवि

४६—आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाइ
जावए

४७—विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा
महया खुड्डएहि य

४३—यदि कोई एक दूसरे की लज्जा से या भय से पाप कर्म नहीं करता तो इसका कारण क्या उसका मुनित्व है ?

४४—वहाँ—जहाँ पाप कर्म से वचने का प्रश्न हो वहाँ—धर्म का विचार कर अपनी आत्मा को प्रसन्न रख।

४५—ज्ञानी, जिसे आत्म-साधना के सिवा अन्य कुछ परम नहीं, कभी प्रमाद नहीं करता।

४६—आत्मगुप्त पुरुष सदा वीरभाव से संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक मात्र आहार से जीवन-निर्वाह करे।

४७—महान् या क्षुद्र—सव रूपों में—विराग भाव रख।

४८—आगइं गइं परिण्णाय दोहिवि अंतेहिं आदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ, न भिज्जइ, न डज्झइ, न हंमइ कंचणं सव्वलोए

४६—अवरेण पुव्विं न सरंति एगे,
किमस्स तीयं ? किं वा आगमिस्सं ?
भासंति एगे इह माणवाओ,
जमस्स तीयं तमागमिस्सं ॥
नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं,
अट्ठं नियच्छंति तहागया उ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी,
निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥

४८—गति आगति को जान कर जिसने दोनों ही अन्तों—राग और द्वेष—को छोड़ दिया है वह सारे लोक में किसी के द्वारा छिन्न नहीं होता, विद्ध नहीं होता, दग्ध नहीं होता और न निहत होता है।

४९—इस जीव का अतीत क्या था ? इसका भविष्य क्या है—इस भूत और भविष्य का कितने ही विचार ही नहीं करते।

कितने ही कहते हैं इस संसार में जीव का जो अतीत था वही भविष्य है।

तथागत अतीतार्थ को—अतीत के अनुसार भविष्य होने की वात को या भविष्यार्थ को—भविष्य के अनुसार अतीत होने की वात को स्वीकार नहीं करते। अतीत या भविष्य कर्मों के अनुसार ही होता है, यह जान कर पवित्र आचरणयुक्त महर्षि कर्मों को धुन कर क्षय कर डाले।

५०—का अरई के आणंदे
इत्थंपि अग्गहे चरे

५१—सव्वं हासं परिच्चज्ज,
आलीनगुत्तो परिव्वए

५२—पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

५३—जं जाणिज्जा उच्चालइयं
तं जाणिज्जा दूरालइयं
जं जाणिज्जा दूरालइयं
तं जाणिज्जा उच्चालइयं

५४—पुरिसा ! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

५०—ज्ञानी के लिए अरति क्या है और आनन्द क्या है ? वह हर्ष-शोक के विषय में अनासक्त रह संयम में विचरे ।

५१—साधक सभी प्रकार का हास्य कुतूहल छोड़ कर मन, वचन, काया को गोपन कर संयम का पालन करे ।

५२—हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है । क्यों वाहर मित्र की खोज कर रहा है ?

५३—जिस पुरुष को विषयों के संग को दूर करने-वाला समझो, उसको मोक्ष प्राप्त करनेवाला समझना चाहिये । जिसको मोक्ष प्राप्त करनेवाला समझो, उसको विषयों का संग दूर करनेवाला समझना चाहिये ।

५४—हे पुरुष ! अपनी आत्मा का ही निग्रह कर । ऐसा करने से तू दुःखों से छूट जायगा ।

५५—पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।

५६—सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ

५७—दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणण पूयणाए जंसि एगे पमायंति

५८—सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए।

५५—हे पुरुष! सत्य को ही अच्छी तरह जान। जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित होता है—जो सत्य की आराधना में उद्यमी होता है - वह मेधावी मार—मृत्यु को तर जाता है।

५६—सत्य से युक्त पुरुष धर्म को ग्रहण कर श्रेय को अच्छी तरह देखता है।

५७—राग और द्वेष वश मनुष्य इस जीवन के लिए एवं प्रशंसा, सम्मान और पूजा पाने के लिए पाप कर्म करता है और ऐसा करने में कितने ही प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

५८—सत्य युक्त मुमुक्षु किसी भी दुःख से स्पृष्ट होने पर न घबराये।

५९—पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ

(श्रु० १ : अ० ३ उ० ३)

६०—से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च

६१—आयाणं निसिद्धा सगडब्भि

६२—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ

६३—सव्वओ पमत्तस्स भयं
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

५९—देख! संयमी साधक लोक के प्रपंचों से मुक्त हो जाते हैं।

६०—मुमुक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने वाला उन्हें छोड़ने वाला होता है।

६१—कर्म-आश्रवों को रोक कर स्वकृत कर्मों का भेदन करना चाहिये।

६२—जो एक को जानता है, वह सव को जानता है; जो सव को जानता है; वह एक को जानता है।

६३—प्रमत्त को—प्रमादी पुरुष को सव ओर से भय रहता है। अप्रमत्त—अप्रमादी को किसी ओर से भय नहीं रहता।

६४—जे एगं नामे से बहुं नामे
जे बहुं नामे से एगं नामे

६५—वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा
महाजाणं।
परेण परं जंति नावकंखंति जीवियं

६६—एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ
पुढो वि एगं

६७—सड्ढी आणाए मेहावी

६४ जो एक को नमाता—जीतता है वह अनेकों को नमाता—जीतता है। जो अनेकों को नमाता—जीतता है वह एक को नमाता - जीतता है।

६५—संसार के दुःख को जानकर धीर साधक सांसारिक बंधनों का वमन कर—त्यागकर—संयमरूपी महायान से यात्रा करते हैं। वे उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाते हैं और मुड़कर असंयत जीवन को आकांक्षा नहीं करते।

६६—जो एकको क्षय करता है, वह एकाधिक को क्षय करता है। जो एकाधिक को क्षय करता है, वह एक को क्षय करता है।

६७—मेधावी आज्ञा द्वारा तत्त्व को जानकर श्रद्धावान् हो।

६८—लोगं च आणाए अभिसमेच्चा
अकुओभयं

६६—अत्थि सत्थं परेण परं
नत्थि असत्थं परेण परं

७०—जे कोहदंसी से माणदंसी
जे माणदंसी से मायादंसी
जे मायादंसी से लोभदंसी
जे लोभदंसी से पिज्जदंसी
जे पिज्जदंसी से दोसदंसी
जे दोसदंसी से मोहदंसी
जे मोहदंसी से गब्भदंसी
जे गब्भदंसी से जम्मदंसी

६८—आज्ञा द्वारा लोक को जानकर अकुतोभय हो—ऐसा संयममय जीवन यापन करे जिससे किसीको भय न रहे।

६९—शस्त्र एक से वढ़ कर एक है।

अशस्त्र—अहिंसा से वढ़ कर कोई शस्त्र नहीं।

७०—जो क्रोधदर्शी है वह मानदर्शी है, जो मानदर्शी है वह मायादर्शी है, जो मायादर्शी है वह लोभदर्शी है, जो लोभदर्शी है वह प्रेम—रागदर्शी है, जो रागदर्शी है वह द्वेषदर्शी है, जो द्वेषदर्शी है वह मोहदर्शी है, जो मोहदर्शी है वह गर्भदर्शी है, जो गर्भदर्शी है वह जन्मदर्शी है,

जे जम्मदंसी से मारदंसी
जे मारदंसी से नरयदंसी
जे नरयदंसी से तिरियदंसी
जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी

७१—से मेहावी अभिनिवट्टिज्जा कोहं च
माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च
दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च
मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च।

७२—किमत्थि ओवाही पासगस्स न
विज्जइ ? नत्थि त्तिबेमि
(श्रु० १ : अ० ३ उ० ४)

जो जन्मदर्शी है वह मारदर्शी है, जो मारदर्शी है वह नरकदर्शी है, जो नरकदर्शी है वह तिर्यक्दर्शी है, जो तिर्यक्दर्शी है वह दुःखदर्शी है।

७१—इस तरह देखनेवाला मेधावी पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, नरक, तिर्यग्योनि एवं दुःख से निवृत्त होता हैं।

७२—द्रष्टा के उपाधि होती है या नहीं?—नहीं होती।

समत्त

१—से बेमि जे अईया जे य पडुप्पन्ना
जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो
ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति
एवं पण्णविंति एवं परूविंति
सव्वे पाणा सव्वे भूया
सव्वे जीवा सव्वे सत्ता
न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा
न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा
न उद्दवेयवव्वा
एस धम्मे सुद्धे निइए सासए

समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तं
जहा-उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु

सम्यक्त्व

१—मैं कहता हूँ—जो अतीत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले अरिहंत भगवान् हैं वे सब ऐसा कहते, ऐसा बोलते, ऐसी प्रज्ञापना करते और ऐसी प्ररूपना करते हैं कि—

किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को न मारना चाहिए, उस पर हुकूमत न करनी चाहिए, (क्रीत दास दासी रूप से) पराधीन न करना चाहिए, और न उसको उपद्रव करना चाहिए।

यही धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है

लोक को—जीव समूह को जान कर खेदज्ञ—दूसरों के खेद—संताप—को समझने वाले—ज्ञानी पुरुषों ने उत्थित या अनुत्थित, उपस्थित

वा अणुवट्टिएसु वा उवरयदंडेसु वा
अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा
अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा
असंजोगरएसु वा
तच्चं चेयं तहा चेयं
अस्सिं चेयं पवुच्चइ

२—तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे
जाणित्तु धम्मं जहा तहा

३—दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा
नो लोगस्सेसणं चरे
जस्सनत्थि इमा जाई अण्णा तस्स
कओसिया

या अनुपस्थित, हिंसा से विरत या अविरत, उपाधि सहित या उपाधि रहित, संयोगी या असंयोगी—सब के लिए यही धर्म कहा है।

यही धर्म तथ्य है, यही यथार्थ है। जिन प्रवचन में यही कहा है।

२—यथातथ्य धर्म को जानकर ग्रहण करने के बाद उसे न छिपावे और न उसका त्याग करे।

३—रूपों में—विषयों में निर्वेद को—विरति भाव को प्राप्त कर।

लोकैषणा—लौकिक विषय भोगों की कामना न कर।

जिसके यह लोकैषणा नहीं है उसके अन्य पाप प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती है ?

४—दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ

५—समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति।

६—अहो अ राओ अ जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे

७—पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि त्तिवेमि

(श्रु० १ : अ० ४ : उ० १)

८—जे आसवा ते परिस्सवा
जे परिस्सवा ते आसवा

४—यह जो ऊपर कहा गया है वह देखा, सुना, माना और विशेष रूप से जाना हुआ है।

५—जो मनुष्य संसार में आसक्त और विषयों में लीन हैं, वे वार-वार भिन्न भिन्न योनियों में जन्मान्तर करते हैं।

६—सदसद्व विवेकी पुरुष सदा धीर—अविचलित और रात दिन यत्नवान्—संयम में सावधान हो।

७—विवेकी पुरुप प्रमादी—असंयति—को आज्ञा के वाहर समझ सदा अप्रमाद पूर्वक पराक्रम करे। यह मैं कहता हूँ।

८—जो आश्रव हैं—कर्म-प्रवेश के द्वार हैं—वे ही अनुन्मुक्त अवस्था में परिस्रव हैं—कर्म प्रवेश को रोकने

जे अणासवा ते अपरिस्सवा
जे अपरिस्सवा ते अणासवा
एए पए संवुज्झमाणे
लोयं च आणाए अभिसमिच्चा
पुढो पवेइयं

९—आघाइ नाणी इह माणवाणं संसार-
पडिवण्णाणं संवुज्झमाणाणं विन्नाण-
पत्ताणं

१०—अट्टाविसंता अदुवा पमत्ता

वाले हैं। जो परिस्रव हैं—कर्म-प्रवेश को रोकने के उपाय हैं वे ही (उन्मुक्त अवस्था में) आस्रव हैं—कर्म प्रवेश के द्वार हैं। जो अनास्रव हैं—कर्म प्रवेश के कारण नहीं हैं वे भी (अपनाये बिना) संवर—कर्म-प्रवेश के रोकनेवाले—नहीं होते। जो आस्रव—कर्म-प्रवेश के कारण हैं—वे ही (रोकने पर) अनास्रव होते हैं।

पृथक्-पृथक् प्रवेदित इन पदों को समझनेवाला लोक को तीर्थंकर की आज्ञा से जान कर आस्रव से निवृत्त हो और संवर में प्रवृत्ति करे।

९—ज्ञानी पुरुष, संसारी होने पर भी जो मनुष्य संबुद्ध और विज्ञान-प्राप्त—विवेकशील होते हैं, उन्हें यह धर्म कहते हैं।

१०—हे आर्त्त और प्रमादी मनुष्यो! मैं तुम्हें यथार्थ-

अहासच्चमिणं तिवेमि
नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि
इच्छापणीया वंकानिकेया
कालगहीया निचयनिविट्ठा
पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति

११—इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ
अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति
चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं
परिचिट्ठइ अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं
नो चिट्ठं परिचिट्ठइ

सच्ची वात कहता हूँ। मृत्यु के मुंह में पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आये ऐसा नहीं हो सकता। जो वासनाओं के वश हैं, असंयम के निवास हैं, कालगृहीत हैं—समय समय पर पश्चात्पद हैं और जो रात-दिन संग्रह करने में निविष्ट हैं वे भिन्न-भिन्न जातियों में—जीव-योनियों में जन्म-जन्मान्तर करते हैं।

११—जगत् में कितने ही लोगों को मानो नरकादि से गाढ परिचय-सा होता है। वे वार-वार पाप कर्म कर नरक, पशु आदि योनियों में होनेवाले स्पर्श—दुःखों का प्रतिसंवेदन करते रहते हैं।

अत्यन्त क्रूर कर्म से प्राणी अत्यन्त वेदनावाली योनि में उत्पन्न होता है। जो अत्यन्त क्रूर कर्म नहीं करता वह उतनी वेदनावाली योनि में नहीं जाता।

१२—एगे वयंति अदुवावि नाणी
नाणी वयंति अदुवावि एगे

१३—आवंति केयावंती लोयंसि समणा
य माहणा य पुढो विवायं वयंति
से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं
च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं
तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडि-
लेहियं च णे—सव्वे पाणा सव्वे
जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता
हन्तव्वा अज्जावेयव्वा परिया-
वेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्दवेयव्वा,
इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो
अणारियवयणमेयं

१२—जो श्रुतकेवली कहते हैं वह ही केवलज्ञानी कहते हैं। जो केवलज्ञानी कहते हैं वही श्रुतकेवली कहते हैं।

१३—इस संसार में अनेक श्रमण ब्राह्मण भिन्न ही तर्क-वितर्क करते हुए कहते हैं—"हमने देखा, सुना, मनन किया, विशेष भाव से जाना और ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक् दिशा में सर्व प्रकार से पर्यालोचना की है कि किसी भी प्राणी, किसी भी जीव, किसी भी भूत, किसी भी सत्त्व को मारने, उस पर हुकूमत करने, उसे संताप देने, उसे दासदासी रूप में अधीन रखने और उसके प्रति उपद्रव करने में कोई दोष नहीं है - यह तुम जानो।"

पर यह अनार्यों का कथन है।

पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि

तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी—से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे

पहले भिन्न-भिन्न दर्शनों के तत्त्व को जानकर प्रश्न करता हूँ—"हे वादियो ! तुम्हें साता—सुख—दुःखकर—अप्रिय है या असाता दुःखकर—अप्रिय ?" सम्यक् उत्तर देने पर—अर्थात् हमें दुःख अप्रिय है, सुख अप्रिय नहीं है उनके ऐसा कहने पर—हम उन्हें कहेंगे—तुम्हारी ही तरह सर्व प्राणी, सर्व जीव, सर्व भूत और सर्व सत्त्वों को असाता—दुःख वेचैन करने वाला, महाभय का कारण और पीड़ा कारक है। ऐसा मैं कहता हूँ।

जो आर्य हैं वे इस सम्वन्ध में ऐसा कहते हैं। "यह तुमने उल्टा देखा, उल्टा सुना, उल्टा मनन किया, विशेष रूप से उल्टा जाना और ऊर्ध्व, अधो तिर्यक् दिशा में उल्टा पर्यालोचन किया है जो कहते, वोलते, प्रज्ञापित करते और प्ररूपणा करते हो कि 'किसी

एवमाइक्खइ एवं भासइ एवं परूवेइ एवं पण्णवेइ—सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हन्तव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्दवेयव्वा। इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारिय-वयणमेयं

वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्ण-वेमो—सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा

भी प्राणी, जीव, भूत और सत्त्व को मारने, उस पर हुकूमत करने, उसे परिताप देने, उसे दास-दासी रूप से ग्रहण करने और उसे उपद्रव करने में दोष नहीं है, ऐसा जानो।' ऐसा तुम्हारा कहना अनार्य वचन है।"

"हम तो ऐसा कहते, ऐसा बोलते, ऐसा प्रज्ञापित करते और ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि किसी भी प्राणी, किसी भी जीव; किसी भी भूत और किसी भी सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उसे परिताप नहीं देना चाहिए, उसे दासदासी रूप से

न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा
इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो
आयरियवयणमेयं
(श्रु० १ : अ० ४ उ० २)

१४—उवेहि णं बहिया य लोगं से
सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू
अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा
जे केइ सत्ता पलियं चयंति
नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू
आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा
एवमाहु सम्मत्तदंसिणो

अधीन नहीं करना चाहिए और न उसके प्रति उपद्रव करना चाहिये। इसी में दोष नहीं है ऐसा जानो।

ऐसा कहना—आर्य वचन है।"

१४—जो लोग धर्म से वाहर हैं—धर्म में विपरीत वुद्धि रखते हैं—उनके प्रति उपेक्षा भाव—मध्यस्थ भाव रखो। जो कोई विरोधियों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है वह सर्व लोक में विद्वान् है।

जो भी प्राणी कर्म को छोड़ते—छोड़ने में समर्थ होते हैं, विचार कर देख, वे सव निक्षिप्तदण्ड—मन, वचन, काया से हिंसा को छोड़ने वाले हैं।

जो नर मृतार्चा—शरीर शुश्रूषा के प्रति मृतवत्, धर्मविद और सरल हैं, वे इस दुःख को आरम्भ—हिंसा—से उत्पन्न जान कर उसे छोड़ते हैं।

सम्यक्त्वदर्शी तत्त्वज्ञ ऐसा कहते हैं।

१५—ते सव्वे पावाइया
दुक्खस्स कुसला
परिण्णमुदाहरंति
इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो

१६—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे
एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं

१७—कसेहि अप्पाणं
जरेहि अप्पाणं

१८—जहा जुन्नाइं कट्ठाइं
हव्ववाहो पमत्थइ
एवं अत्तसमाहिए अणिहे
विगिंच कोहं अविकंपमाणे

१५—दुःख को समझने में कुशल वे सब प्रवादो—तत्त्वदर्शी—इस कर्म को सर्वशः—सब तरह से जानकर, उसके क्षय की परिज्ञा—बुद्धि—बतलाते हैं।

१६—आज्ञा-आराधना का आकांक्षी पण्डित पुरुष आत्मा को अकेली समझ—शरीर से भिन्न समझ—अमोह भाव से शरीर को तप से क्षीण करे।

१७—अपनी आत्मा को कृश करो—पतली करो। अपनी आत्मा को जीर्ण करो—शुष्क करो।

१८—जिस तरह अग्नि पुराने सूखे लकड़ों को शीघ्र जलाती है, उसी तरह आत्मसमाहित—राग रहित और क्रोध को छोड़ कर स्थिर बने—जीव के कर्म शीघ्र नाश को प्राप्त होते हैं।

१९—इमं निरुद्धाउयं संपेहाए
दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं
पुढो फासाइं च फासे
लोयं च पास विफंदमाणं

२०—जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं
अणियाणा ते वियाहिया

२१—तम्हा अतिविज्जो नो
पडिसंजलिज्जासित्ति वेमि
(श्रु० १ : अ० ४ उ० ३)

२२—आवीलए पवीलए निप्पीलए
जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं

१९—इस मनुष्य-भव को अल्प आयुष्यवाला समझ कर, क्रोधादि तत्काल दुःखों के कारण हैं अथवा भविष्य में, पापी जीव भिन्न-भिन्न स्थानों में दुःखों का स्पर्श करते हैं तथा सारा लोक दुःख से छटपटा रहा है, यह देख कर, क्रोधादि पापों का परित्याग कर।

२०—उपरोक्त वातें समझ कर, जान कर, देख कर जो पाप कर्मों से निवृत्त हैं वे अनिदान—सांसारिक सुख की कामना से दूर—परम सुखी कहे गये हैं।

२१—इसलिए अत्यन्त विद्वान् पुरुष क्रोधादि से आत्मा को संज्वलित न करे—न जलाये।

ऐसा मैं कहता हूँ।

२२—सारे पूर्व संयोगों को त्याग एवं इन्द्रिय-जय रूप उपशम भाव को प्राप्त कर, आपीड़ित कर, निष्पीड़ित कर—तप से आत्मा को उत्तरोत्तर तपा।

२३—तम्हा अविमणे वीरे
सारए समिए सहिए सया जए
दुरणुचरो मग्गो वीराणं
अनियट्टगामीणं विगिंच
मंससोणियं

२४—एस पुरिसे दविए वीरे
आयाणिज्जे वियाहिए
जे धुणाइ समुस्सयं
वसित्ता बंभचेरंसि

२५—नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं
आयाणसोयगढिए बाले
अव्वोच्छिन्नबंधणे

२३—मुक्तिगामी वीर पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना वड़ा कठिन है; अतएव मांस और शोणित को सुखा कर वीर पुरुष मन की अरति को हटा, संयम में रत हो, समितियों से युक्त रह, विवेक सहित सदा इस मार्ग पर यत्न करता रहे।

२४—जो ब्रह्मचर्य में वास करता हुआ कर्मों को धुनता है, वही वीर पुरुष संयमी और अनुकरणीय कहा जाता है।

२५—नेत्रादि इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों से दूर होकर भी जो मूर्ख विषय-स्रोत में गृद्ध—प्रवाहित होता है, वह वास्तव में छिन्नवंधन नहीं होता। वह संयोगों को पार

अणभिक्कंतसंजोए
तमंसि अवियाणओ
आणाए लंभो नत्थि त्ति बेमि

२६—जस्स नत्थि पुरा पच्छा
मज्झे तस्स कुओ सिया ?

२७—सेहु पन्नाणमंते बुद्धे
आरंभोवरए
संममेयंति पासह
जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं

२८—पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं
निक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं

नहीं कर सका है और अज्ञान से अंधकार में निमग्न है। ऐसे मनुष्य को भगवान् की आज्ञा का लाभ नहीं होता। ऐसा मैं कहता हूँ।

२६—जिसके पूर्व में और पश्चात् में नहीं है, उसके मध्य में कहाँसे होगा ?

२७—जो आरम्भ—हिंसा-कार्यसे उपरत है—अलग है—वही प्रज्ञानी और बुद्ध है।

जिस आरम्भ से वन्धन, घोर वध और दारुण परिताप का भागी होना पड़ता है, देख। उससे उपरत होना ही सम्यक् कार्य है।

२८—इस मृत्युलोक में जो निष्कर्मदर्शी—मोक्षाकांक्षी और वेदविद्—तत्वज्ञ होता है, वह बाह्यस्रोत (हिंसादि)

कम्माणं सफलं दट्ठूण
तओ निज्जाइ वेयवी

२९—जे खलु भो! वीरा समिया सहिया
सया जया संघडदंसिणो
आओवरया अहातहं लोयं
उवेहमाणा पाईणं पडिणं
दाहिणं उईणं इय सच्चंसि
परिचिट्ठिंसु

३०—साहिस्सामो नाणं वीराणं,
समियाणं सहियाणं सया
जयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं
अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं

और अभ्यन्तरस्रोत (राग द्वेषादि) का छेदन कर, किये हुए कर्मों को सफल देख पापों से निकल जाता है।

२९—हे साधक। निश्चय ही जो पुरुष वीर, क्रिया में समित—सावचेत, विवेक सहित, सदा यत्नवान्, दृढ़दर्शी, पापकर्म से निवृत्त और लोक को यथार्थरूप से देखनेवाले हैं वे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर - सारी दिशाओं में सत्य में प्रतिष्ठित होते हैं।

३०—जो वीर हैं, क्रियाओं में संयत हैं, विवेक सहित हैं, सदा यत्नवान् हैं, दृढ़दर्शी हैं, पापकर्म से निवृत्त हैं और लोक को यथार्थ रूप से देखने वाले हैं, उनके ज्ञान—अनुभव—को कहता हूँ।

किमत्थि उवाही? पासगस्स न विज्जइ, नत्थित्तिबेमि

(श्रु० १ अ० ४ : उ० ४)

तत्त्वदर्शी के उपाधि है या नहीं है ?

तत्त्वदर्शी के उपाधि नहीं होती ऐसा मैं कहता हूँ।

लोगसारो

१—आवंती केयावंती लोयंसि
विप्परामुसंति अट्ठाए
अणट्ठाए एएसु चेव
विप्परामुसंति
गुरूसे कामा, तओ से मारंते
जओ से मारंते तओ से दूरे,
नेव से अंतो नेव दूरे

२—से पासइ फुसियमिव कुसग्गे
पणुन्नं निवइयं वाएरियं
एवं बालस्स जीवियं मंदस्स
अवियाणओ

लोकसार

१—इस लोक में, जो भी प्रयोजन के लिए या विना प्रयोजन षट्काय जीवों की हिंसा करते हैं, वे इन्हीं जीव-योनियों में वार-वार जन्म धारण कर मारे जाते हैं।

हिंसक की कामनाएँ—वासनाएँ अति गुरु—तीव्र होती हैं। इसी कारण वह मारान्तवर्ती—जन्म-मरण के चक्र में रहता है, और चूंकि वह जन्म-मरण के चक्र में रहता है, अतः वह सुख से दूर है। (जो विषय के वशवर्ती हो जीवों की घात नहीं करता) वह न जन्म मरण के चक्र में होता है, न सुख से दूर।

२—ज्ञानी मन्द, अज्ञानी और मूर्ख के जीवन को कुश के अग्रभाग पर स्थित, पवन से हिलते पतनोन्मुख जल विन्दु के सदृश देखता है।

कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे
तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ
मोहेण गब्भं मरणाइ एइ
एत्थ मोहे पुणो पुणो

३—संसयं परिआणओ
संसारे परिन्नाए भवइ
संसयं अपरियाणओ
संसारे अपरिन्नाए भवइ

४—जे छेए से सागारियं
न सेवइ
कट्टु एवमवियाणओ
बिइया मंदस्स बालया

मूर्ख मनुष्य क्रूर कर्म करता हुआ उनसे उत्पन्न कर्मों से मूढ़ हो विपर्यास को—मोहग्रस्त अवस्था को—प्राप्त करता है। मोह से वह गर्भ—जन्म और मरण—को प्राप्त करता है और उससे यहाँ फिर पुनः पुनः मोह-ग्रस्त होता है।

३—जो परमार्थ को जानता है उसे संसार का स्वरूप ज्ञात होता है; जो परमार्थ को नहीं जानता; उसे संसार का स्वरूप ज्ञात नहीं होता।

४—जो कुशल है, वह कामभोगों का सेवन नहीं करता।

विषय-सेवन कर लेने पर भी उसे स्वीकार न करना, यह मूर्ख की दूसरी मूर्खता है।

लद्धा हुरत्था पडिलेहाए
आगमित्ता आणविज्जा
अणासेवणय त्ति बेमि

५—पासह एगे रूवेसु
गिद्धे परिणिज्जमाणे
इत्थफासे पुणो पुणो
आवंती केयावंती लोयंसि
आरंभजीवी
एएसु चेव आरंभजीवी
इत्थवि बाले परिपच्चमाणे
रमई पावेहिं कम्मेहिं
असरणे सरणंति मन्नमाणे

६—इस संसार में कितने ही अकेले चर्या करनेवाले होते हैं। वे अत्यन्त क्रोधी, अत्यन्त मानी, अत्यन्त मायावी, अत्यन्त लोभी, पाप में अत्यन्त रत, अत्यन्त ढोंगी, अत्यन्त धूर्त, अत्यन्त दुष्ट संकल्पवाले, हिंसा आदि पापों में आसक्त एवं कुकर्मी होने पर भी हम धर्म के लिए विशेष रूप से उत्थित हैं—प्रयत्नशील हैं—ऐसा मिथ्या भाषण करते रहते हैं। "कहीं कोई मुझे कुकर्म करता न देख ले" इस तरह वे सतत् सशंक रहते हैं।

७—इस तरह अज्ञान और प्रमाद दोष से सतत् मूढ़ मनुष्य धर्म को नहीं जानते—नहीं समझते।

८—हे मनुष्य! प्रजा—प्राणीसमूह—आर्त—दुःखी है। जो कर्मकुशल तथा पापों से अनुपरत हैं

६—इहमेगेसिं एकचरिया भवइ
से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाये
बहुलोभे बहुरए बहुनडे बहुसढे
बहुसंकप्पे आसवसत्ती पलिउच्छन्ने
उट्ठियवायं पवयमाणे मा मे
केइ अदक्खू

७—अन्नाणपमाय दोसेणं सययं मूढे
धम्मं नाभिजाणइ

८—अट्टा पया माणव !
कम्मकोविया जे अणुवरया

६—इस संसार में कितने ही अकेले चर्या करनेवा
होते हैं। वे अत्यन्त क्रोधी, अत्यन्त मानी, अत्यन
मायावी, अत्यन्त लोभी, पाप में अत्यन्त रत, अत्यन
ढोंगी, अत्यन्त धूर्त, अत्यन्त दुष्ट संकल्पवाले, हिंस
आदि पापों में आसक्त एवं कुकर्मी होने पर भी हम ध
के लिए विशेष रूप से उत्थित हैं—प्रयत्नशील हैं—
ऐसा मिथ्या भाषण करते रहते हैं। "कहीं को
मुझे कुकर्म करता न देख ले" इस तरह वे सतत् सशं
रहते हैं।

७—इस तरह अज्ञान और प्रमाद दोष से सतत् मू
मनुष्य धर्म को नहीं जानते—नहीं समझते।

८—हे मनुष्य! प्रजा—प्राणीसमूह—आर्त—दुः
है। जो कर्मकुशल तथा पापों से अनुपरत

अविज्जाए पलिमुक्खमाहु
आवट्टमेव अणुपरियट्टंति
त्ति बेमि

(श्रु० १ : अ० ५ उ० १)

९—आवन्ती केयावन्ती लोगंसि अणा-
रंभजीवी एएसु चेव अणारंभजीवी

१०—एत्थोवरए तं झोसमाणे
अयं संधीति अदक्खू

११—एस मग्गे आरिएहिं पवेइए
उट्ठिए नो पमायए
जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं

और अविद्या से मोक्ष कहते हैं वे आवर्त्त—संसार-चक्र—में ही अनुपरिवर्त्तन—वार-वार भ्रमण—करते हैं।

९—लोक में जो भी अनारम्भ-जीवी हैं वे छः ही प्रकार के जीवों के प्रति आरम्भ नहीं करते हुए जीवन यापन करते हैं।

१०—वह आरम्भ से उपरत हो कर्मों का क्षय करता रहता है।

वह देखता है कि यही संधि—अवसर—है।

११—यह मार्ग आर्यों ने कहा है :

दुःख और सुख के विभिन्न रूपों को जानकर, संयम में उत्थित हो, प्रमाद न कर।

१२—पुढोछंदा इह माणवा
पुढो दुःक्खं पवेइयं

१३—से अविहिंसमाणे अणवयमाणे
पुट्ठो फासे विपणुन्नए

१४—एस समिया परियाए वियाहिए

१५—जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते
आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे
ते फासे पुट्ठो अहियासइ

१२—संसार में मानव पृथक्-पृथक् अभिप्राय वाले होते हैं।

दुःख भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न कहा गया है।

१३ - वह हिंसा न करता हुआ, झूठ न बोलता हुआ रहे।

परिषहों से स्पर्शित होने पर उन्हें समभाव से सहन करे।

१४—ऐसा संयमी ही उत्तम पर्यायवाला—उत्तम चारित्रशील कहा गया है।

१५—जो पापकर्मों में आसक्त नहीं है उन्हें भी कदाचित् आतंक स्पर्श करते हैं। उन स्पर्शों से स्पृष्ट होने पर उन्हें पूर्व कर्मों का फल जान समभाव से सहन करे। धीर पुरुषों ने ऐसा ही कहा है।

१६—पासह एयं रूवसंधि समुप्पेहमाणस्स इक्काययणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि

(श्रु० १ : अ० ५ उ० २)

१७—आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती

१८—एतदेव एगेसिं महाब्भयं भवइ

१९—लोगवित्तं च णं उवेहाए एए संगेअवियाणओ

१६—देख—देह के स्वरूप को इस प्रकार देखनेवाले और आत्मा के गुणों में रमण करनेवाले, विप्रमुक्त और विरक्त के लिए भव-भ्रमण का मार्ग खुला नहीं रहता।

१७—इस लोक में जो परिग्रही हैं वे अल्प हो या वहुत, अणु हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त सभी वस्तुओं का परिग्रह करते हैं।

१८—यह परिग्रह ही एक-एक परिग्रहिकों के महाभय का हेतु है।

१९—लोकवित्त—परिग्रह—के स्वरूप का चिन्तन कर। इससे दूर रहनेवाले को कोई भय नहीं होता।

२०—से सुपडिबद्धं सूवणीयंति नच्चा
पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा

२१—एएसु चेव बंभचेरं त्ति वेमि

२२—से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे--बंधप-
मुक्खो अज्झत्थेव

२३—एत्थ विरए अणगारे दीहरायं-
तितिक्खए

२४—पमत्ते बहिया पास
अप्पमत्तो परिव्वए

२०—जो निष्परिग्रही है वह सु-प्रतिवद्ध है, सु-उपनीत है। यह जानकर हे पुरुष! परम-चक्षुवाला हो, संयम में पराक्रम कर।

२१—ऐसे साधकों में ही ब्रह्मचर्य होता है—ऐसा मैं कहता हूँ।

२२—मैंने सुना है और अनुभव भी किया है कि वन्ध और मोक्ष आत्मा ही है।

२३—इस परिग्रह से विरत अनगार यावज्जीवन तितिक्षाभाव रखे।

२४—प्रमत्त को धर्म से वाहर देख, अप्रमत्त भाव से संयम में विचरण कर।

२५—एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्ति बेमि

(श्रु० १ : अ० ५ उ० २)

२६—आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेवं अपरिग्गहावंती

२७—सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया

२८—समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए

२९—जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं

२५—इस मौन का अच्छी तरह पालन कर—ऐसा मैं कहता हूँ।

२६—लोक में जो अपरिग्रही हैं वे (अल्प या बहु, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त, किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते।

२७—मेधावी पुरुष आप्तवाणी को सुन, अथवा पण्डितों की वाणी को सुन (परिग्रह का त्याग करे)।

२८—आर्यों ने समता में धर्म कहा है।

२९—जिस प्रकार यहाँ मैंने कर्मों की संधि को क्षीण किया है, उसी प्रकार अन्यत्र कर्म-सन्धि का क्षीण होना कठिन है।

अतः कहता हूँ: अपने वीर्य का गोपन न कर।

३०—जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई
जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई
जे नो पुव्वुट्ठायी नो पच्छनिवाई

३१—सेऽवि तारिसिए सिया जे परिन्नाय
लोगमन्नेसयंति एयं नियाय
मुणिणा पवइयं

३२—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे
पुव्वावररायं जयमाणे सयासीलं
सुपेहाए सुणिया भवे अकामे
अझंझे

३०—साधक तीन तरह के होते हैं :

१—जो पहले उत्थित हो वाद में पीछे ताकनेवाले नहीं होते।

२ —जो पहले उत्थित हो वाद में ताकनेवाले होते हैं।

३—जो पहले उत्थित नहीं होते, और न वाद में पीछे ताकने वाले होते हैं।

३१—जो लोक का परित्याग कर पुनः इसकी इच्छा करते हैं, वे गृहस्थों के तुल्य हैं।

मुनि ने यह ज्ञान से कहा है।

३२—आज्ञाकांक्षी पंडित निस्नेह—निस्पृह—हो पूर्व और अपर रात्रि में यत्नपूर्वक शील की सम्प्रेक्षा करता रहे। लाभालाभ को अच्छी तरह सुन, अकाम और लालसा रहित वन।

३३—इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ जुद्धारिहं खलु दुल्लहं

३४—जहित्थ कुसलेहिं परिन्नाविवेगे भासिए
चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ
अस्सिं चेयं पवुच्चइ रूवंसि वा छणंसि वा

३५—से हु एगे संविद्धपहे मुणी अन्नहालोगमुवेहमाणे इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ संजमई नो पगब्भइ

३३—आभ्यन्तर शत्रु-दल के साथ ही युद्ध कर, वाहर के युद्ध से तुम्हें क्या लाभ ?

आत्मयुद्ध के योग्य सामग्रो का मिलना निश्चय ही दुर्लभ है।

३४—यहाँ कुशल पुरुषों ने जिस प्रकार परिज्ञा—विवेक—वतलाया है, उसमें श्रद्धा कर।

संयम से च्युत मूर्ख गर्भादि में भ्रमण करता है।

जिन-प्रवचन में ही कहा गया है : रूपादि में अथवा हिंसादि में आसक्त होने से पतन होता है।

३५—जो संसार को अन्यथा दृष्टि से देखता हुआ मुक्ति-पथ में दृढ़ रहता है, वही अनन्य मुनि है।

सर्व प्रकार से कर्मों के स्वरूप को जानकर वह हिंसा नहीं करता, संयम रखता है और धृष्टता नहीं करता।

३६—उवेहमाणो पत्तेयं सायं वण्णाएसी
नारभे कंचणं सव्वलोए
एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने
निव्विण्णचारी अरए पयासु

३७—से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं
अप्पाणेणं अकरणिज्जं पापकम्मं
तं नो अन्नेसी

३८—जं संमंति पासहा तं मोणंति
पासहा
जं मोणंति पासहा तं संमंति
पासहा

३६—प्रत्येक प्राणी के सुख को समझता हुआ मोक्षाभिलाषी पुरुष संसार में किसी भी पाप कर्म का आरंभ नहीं करता।

वह केवल आत्ममुखी होता है; मोक्ष से विपरीत दिशा में नहीं जाता, आरंभ से उदासीन रहता है और स्त्रियों में गृद्ध नहीं होता।

३७—वह संयमी सर्व प्रकार से, उत्तम प्रज्ञा से, समन्वागत आत्मा द्वारा अकरणीय पाप कर्म नहीं करता।

३८—जिसके सम्यक्त्व जानो, उनके मौन को भी जानो।

जिसके मौन जानो, उसके सम्यक्त्व को भी जानो।

३९—न इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्ज-
माणेहिं गुणसाएहिं वंकसमायारेहिं
पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं

४०—मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं
पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो
एस ओहन्तरे मुणी, तिण्णे मुत्ते
विरए वियाहिए त्तिबेमि

(श्रु० १ : अ० ५ उ० ३)

४१—गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं
दुप्परक्कंतं भवइ अवियत्तस्स
भिक्खणो

३९—शिथिल, आर्द्र, विपयास्वादी, वक्राचारी, प्रमत्त और घर में रहनेवाले मनुष्यों द्वारा यह शक्य नहीं है।

४०—मुनि मौन को धारणकर शरीर को धुने—कृश करे। सम्यक्त्वदर्शी वीर प्रांत और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं।

संसार-समुद्र को तिरनेवाला ऐसा मुनि ही तीर्ण, मुक्त तथा विरक्त कहा गया है—ऐसा मैं कहता हूँ।

४१—ग्रामानुग्राम में अकेले विचरते हुए अव्यक्त भिक्षु का विहार दुर्यात और दुष्पराक्रान्त होता है।

४२—वयसावि एगे बुइया कुप्पंति
माणवा

४३—उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण
मुज्झइ

४४—संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो
दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ

४५—एयं ते मा होउ
एयं कुसलस्स दंसणं

४६—तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे
तस्सन्नी तन्निवेसणे

४२—कई मनुष्य वचन मात्र से कुपित हो जाते हैं।

४३—अभिमानी मनुष्य महामोह से विवेक शून्य होता है।

४४—अज्ञानी और मोहान्ध मनुष्य के सामने वार-वार अनेक दुरतिक्रम वाधाएँ उपस्थित होती हैं।

४५—ऐसा तुम्हें न हो
यह ज्ञानी की दृष्टि है।

४६—शिष्य तद्‌दृष्टि हो—गुरु की दृष्टि से चले। उसकी निस्संगता का अनुसरण करे। उसे अग्रसर रखे। उसमें पूर्ण श्रद्धा रखे। उसके पास रहे।

४७—जयं विहारी चित्तनिवाई पंथ निज्झाई पलिबाहिरे पासिय पाणे गच्छिज्जा

४८—से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिज्जमाणे

४९—एगया गुणसमियस्स रीयओ काय-संफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उद्दायंति इहलोग वेयण विज्जावडियं

जं आउट्टिकयं कम्मं तं

४७—वह यतनापूर्वक विहार करे। चलते समय उसमें ही चित्त रखे। वह पथ पर दृष्टि रखता हुआ, प्राणियों को देखता—टालता—हुआ चले।

४८—वह जाना, आना, संकोच, प्रसार विनिवर्तन प्रमार्जनादि कार्य यतना से करे।

४९—यदि कभी गुण और समितियों से युक्त संयमी को गमन आदि क्रिया के द्वारा काया-स्पर्श के कारण कोई प्राणी आहत या व्यथा जानेवाला प्राप्त होता है तो कर्म इसी भव में अनुभव होकर क्षय हो जाता है।

यदि कर्म आकुट्टि पूर्वक—संकल्प पूर्वक किया हुआ हो तो उसे जानकर प्रायश्चित्त द्वारा दूर करना चाहिए।

परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से
अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी

५०—से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते
समिए सहिए सयाजए, दट्ठुं
विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो
करिस्सइ ? एस से परमारामो
जाओ लोगंमि इत्थीओ मुणिणा
हु एयं पवेइयं

५१—उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि
निब्बलासए अवि ओमोयरियं
कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा
अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि

इस प्रकार अप्रमाद पूर्वक किए हुए प्रायश्चित्त का ज्ञानी गुण कीर्तन करते हैं।

५०—वह बहुदर्शी, बहुज्ञानी, उपशांत, समित, गुणवान, सदा यत्नवान स्त्री को देखकर आत्मा में विचार करे—यह मेरा क्या उपकार करेगी? इस लोक में स्त्रियाँ परमाराम—महाप्रलोभन की वस्तु हैं। मुनि ने ऐसा कहा है।

५१—कदाचित् संयमी ग्रामधर्म—कामवासना से पीड़ित हो तो वह निर्बल—निस्सत्त्व—आहार करे। आहार की मात्रा को घटा दे। ध्यान में अवस्थित हो।

आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए
इत्थीसु मणं

५२—पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा
पच्छा दंडा इच्चेए कलहासंगकरा
भवंति पडिलेहाए आगमित्ता
आणविज्जा अणासेवणाए त्ति वेमि

५३—से नो काहिए नो पासणिए
नो मामए नो कय किरिए
वइगुत्ते अज्झप्प संवुडे परिवज्जइ
सयापावं एयं मोणं समणुवासि-
ज्जासि त्ति वेमि

(श्रु० १ : अ. ५ उ० ४)

एक ग्राम से दूसरे ग्राम चला जाय। आहार का सर्वथा विच्छेद कर दे। स्त्री में मन को न लगावे।

५२—पहले दण्ड है पीछे स्पर्श—भोग। पहले स्पर्श—भोग है, पीछे दण्ड। ये भोग क्लेश और मोह के हेतु हैं। इसे अच्छी तरह देख—जान—आत्मा को भोग-सेवन से दूर रहने की शिक्षा दे। ऐसा मैं कहता हूँ।

५३—वह स्त्री कथा न करे, स्त्रियों की ओर न ताके, उनके साथ एकांत वास न करे, उनके प्रति ममत्त्व न करे। उनके चित्त को आकर्षित करने के लिए साज-सज्जा न करे। वह वचन से गुप्त रह, आत्मा को संवृत रख पापकर्म से सदा दूर रहे। वह इस तरह मौन—ब्रह्मचर्य की उपासना करे। ऐसा मैं कहता हूं।

५४—वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं
नो लहइ समाहिं

५५—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं
पवेइयं

५६—सिया वेगे अणुगच्छंति
असिता वेगे अणुगच्छंति
अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे
कहं न निव्विज्जे ?

५७—सड्ढिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वय-
माणस्स समियंति मन्नमाणस्स
एगया समिया होइ

५४—संशय-ग्रस्त आत्मा द्वारा समाधि प्राप्त नहीं की जा सकती।

५५—वही सत्य है, निःशङ्क है जो जिनों द्वारा प्रवेदित है—कथित है।

५६—कई गृहस्थ दृष्टि का अनुसरण करते हैं। कई गृहत्यागी भी दृष्टि का अनुसरण करते हैं। अनुसरण न करनेवाला, अनुसरण करनेवालों के बीच रह कैसे निर्वेद को प्राप्त करेगा ?

५७—श्रद्धालु और अच्छी तरह प्रव्रजित होने वाले समझदार पुरुप के "समय—जिन कथित धर्म—ही सत्य है" ऐसी श्रद्धा होती है।

समियंति मन्नमाणस्स एगया
असमिया होइ
असमियंति मन्नमाणस्स एगया
समिया होइ
असमियंति मन्नमाणस्स एगया
असमिया होइ
समियंति मन्नमाणस्स समिया
वा असमिया वा समिआ होइ
उवेहाए
असमियंति मन्नमाणस्स समिया
वा असमिया वा असमिया होइ
उवेहाए

"समय—जिन कथित धर्म—ही सत्य है"—आरम्भ में ऐसा माननेवाले की श्रद्धा कदाचित् वाद में असम्यक् हो जाती है।

"समय—जिन कथित धर्म—ही सत्य है" आरम्भ में ऐसा न माननेवाले की श्रद्धा कदाचित् वाद में वैसी नहीं रहती"—सम्यक् हो जाती है।

"समय—जिन कथित धर्म—ही सत्य है" आरम्भ में ऐसा न माननेवाले की श्रद्धा कदाचित् वाद में वैसी नहीं रहती असम्यक् हो जाती है।

'समय—जिन-कथित धर्म—ही सत्य है" ऐसा माननेवाले के सम्यक् अथवा सम्यक् तत्त्व सम्यक् विचार से सम्यक् ही होते हैं।

"समय—जिन कथित धर्म—ही सत्य है" ऐसा न माननेवाले के सम्यक् अथवा तत्त्व असम्यक् विचार के कारण असम्यक् ही होते हैं।

५८—उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया-उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा

५९—तुमंसि नाम सच्चेवं जं हंतव्वंति मन्नसि; तुमंसि नाम सच्चेवं जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि एवं जं परिघितव्वंति मन्नसि, जं उद्दवेयव्वंति मन्नसि,

५८—सत्यदर्शी संशयग्रस्त से कहे - सम्यक् रूप से विचार कर, इस तरह संयम में प्रवृत्ति से ही कर्म का नाश होता है।

उत्थित और स्थित की गति को अच्छी तरह देख.

अपनी आत्मा को इस बाल-भाव में उपदर्शित न कर।

५९—हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह भी तेरे जैसा ही सुख दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकुमत करने की इच्छा करता है विचार कर, वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दुःख देने का विचार करता है, विचार कर, वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने वश में रखने की इच्छा करता है विचार कर, वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

अंजू चेयपडिबुद्धजीवी
तम्हा न हंता नवि घायए

अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं
नाभिपत्थए

६०—जे आया से विन्नाया
जे विन्नाया से आया
जेण वियाणइ से आया
तं पडुच्च पडिसंखाए

६१—एस आयावाई समियाए
परियाए वियाहिए त्ति बेमि
(श्रु० १ : अ० ५ उ० ५)

सत् पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है। वह न किसी को मारता है और न किसी की घात करता है।

जो हिंसा करता है, उसका फल पीछे उसे ही भोगना पड़ता है, अतः वह किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।

६०—जो आत्मा है वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने के सामर्थ्य के द्वारा ही आत्मा की प्रतीति सिद्ध होती है।

६१—जो व्यक्ति आत्मवादी है उसी का पर्याय—संयमानुष्ठान सम्यक् कहा गया है। ऐसा मैं कहता हूँ।

६२—अणाणाए एगे सोवट्ठाणा
अणाए एगे निरूवट्ठाणा
एयं ते मा होउ
एयं कुसलस्स दंसणं
तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे
तस्सन्नी तन्निवेसणे अभिभूय
अदक्खू

६३—अणभिभूए पभू निरालंबणयाए
जे महं अवहिमणे

६४—पवाएण पवायं जाणिज्जा

६२—कई अनाज्ञा में उद्यमी होते हैं। कई आज्ञा में निरुद्यमी होते हैं। यह हाल तेरा न हो।

यह कुशल पुरुष का दर्शन है : गुरु की दृष्टि से देखनेवाला, गुरु की निर्लोभ वृत्ति से चलने वाला, गुरु को आगे रखने वाला, गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला और सदा गुरु के समीप रहने वाला शिष्य दुर्गुणों को जीत कर द्रष्टा वनता है।

६३—जो अपने विनय में महान् है, जिसका मन दृष्टि से जरा भी वाहर नहीं वह किसी से अपराजित शिष्य निरालम्वन में—सव विघ्नों में उच्च भावना के आधार पर टिके रहने में—समर्थ होता है।

६४—प्रवाद से प्रवाद को जानो। कथन से कथन को जानो।

६५—सहसंमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं
वा अंतिए सुच्चा

६६—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी
सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा
सम्मं समभिण्णाय

६७—इह आरामं परिण्णाय अल्लीणे
गुत्ते आरामो परिव्वए

६८—निट्ठीयट्ठी वीरे आगमेण सया
परक्कमेज्जासि त्ति वेमि

६९—उड्ढं सोया अहे सोया
तिरियं सोया वियाहिया।

६५—अपनी बुद्धि से. अनुभवियों के वचन से अथवा दूसरों से सुनकर ही परमार्थ जाना जाता है।

६६—मेधावी सर्व प्रकार से, सर्वतो भाव से, अच्छी तरह जान लेने पर आज्ञा का उल्लङ्घन न करे।

६७—इस संसार में संयम ही सच्चा आराम है, यह जानकर मुमुक्षु इन्द्रियों को वश कर, संयम में तल्लीन हो, उसका पालन करे।

६८—निष्ठावान् आत्मार्थी सदा आगम के अनुसार पराक्रम करे।

६९—ऊर्ध्व स्रोत है, अधः स्रोत है, तिर्यक् दिशा में भी स्रोत है। देख। इन पाप—प्रवाहों को ही स्रोत

एए सोया विअक्खाया
जेहिं संगंति पासहा ॥

७०—आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज-
वेयवी

७१—विणइत्तु सोयं निक्खम्म एस महं
अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए
नावकंखइ

७२—इह आगइं गइं परिन्नाय
अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं
विक्खायरए

कहा गया है जिससे आत्मा के कर्मों का संग—बंध होता है।

७०—आवर्त को देखकर वेदज्ञ इससे दूर होता है।

७१—श्रोत को रोकने के लिए जो निष्क्रमण करता है, वह महापुरुष अकर्मा हो सब जानने देखने लगता है। तथा परमार्थ को देख भोगों की आकांक्षा नहीं करता।

७२—वह आगति-गति को जान कर, जन्म-मरण के मार्ग को पार कर, मोक्ष को पा लेता है।

७३—सव्वे सरा नियट्टन्ति
तक्का जत्थ न विज्जइ
मइ तत्थ न गाहिया
ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने
से न दीहे न हस्से न वट्टे
न तंसे न चउरंसे न परिमंडले
न किण्हे न नीले न लोहिए
न हालिद्दे न सुक्किल्ले
न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे
न तित्ते न कडुए न कसाए
न अंबिले न महुरे न कक्खडे
न मउए न गरुए न लहुए
न उण्हे न निद्धे न लुक्खे

७३—उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता होता है।

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व, न वृत्त—गोल। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार वह न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीला और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है, न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है, न कडुआ, न कषैला, न खट्टा और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु। वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है न उष्ण। वह न स्निग्ध है, न रूक्ष।

न काऊ न रुहे न संगे
न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा
परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए
अरूवी सत्ता
अपयस्स पयं नत्थि
से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे
न फासे इच्चेव त्ति बेमि।
(श्रु० १ : अ० ५ उ० ६)

वह न शरीर धारी है, न पुनर्जन्मा, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक।

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नहीं।

वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है वचन अगोचर के लिए कोई पद—वाचक शब्द नहीं। वह शब्द रूप नहीं, रूप-रूप नहीं, गन्ध रूप नहीं, रस रूप नहीं, स्पर्श रूप नहीं। वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ।

धुयं

१—ओए समियदंसणे
दयं लोगस्स जाणित्ता
पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं
आइक्खे विभए किट्टे वेयवी

२—से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सू-
समाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं
निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं
लाघवियं अणइवत्तियं

३—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं
सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं
अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा

धूत

१—रागद्वेष हीन समदृष्टि आगमज्ञ पुरुष, लोक पर —प्राणियों पर—दया दिखाकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशा में धर्म कहे, धर्म का विभाग करे, धर्म का कीर्त्तन करे।

२—उत्थित हों अथवा अनुत्थित सुनने की इच्छा वालों को मर्यादा का उल्लङ्घन न कर वह शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव का उपदेश दे।

३—भिक्षु सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व सत्त्वों को, सर्व जीवों को विचार कर धर्म का कथन करे।

४—अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे
नो अत्ताणं आसाइज्जा नो परं
आसाइज्जा
नो अन्नाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं
सत्ताइं आसाइज्जा

५—से अणासायए अणासायमाणे
बज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं
सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे
एवं से भवइ सरणं महामुणी

(श्रु० १ : अ० ६ उ० ५)

४—विचार कर धर्म कथन करता हुआ भिक्षु अपनी आशातना न करे, न दूसरे की आशातना करे। वह अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की आशातना न करे।

५—वह आशातना न करनेवाला और आशातना न करानेवाला महामुनि उसी तरह शरणभूत होता है जिस तरह वध्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों लिए असंदीन-द्वीप।

विमोहो

१—इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसन्ते भवति

२—ते इह आरम्भट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्न-माययन्ति अदुवा वायाउ विउज्जंति तंजहा : अत्थि लोए नत्थि लोए धुवे लोए अधुवे लोए साइए लोए अणाइए लोए सपज्जवसिए लोए अपज्जवसिए लोए

विमोक्ष

१—इस संसार में कइयों को आचारगोचर अच्छी तरह ज्ञात नहीं होता।

२—वे इस संसार में आरम्भार्थी हो दूसरों का अनुसरण करते हुए कहते हैं : "प्राणियों का हनन करो।" इस तरह वे घात करवाते हैं। हिंसा करते हुए का अनुमोदन करते हैं। अथवा विना दिया ग्रहण करते—चोरी करते हैं। अथवा इस तरह की वात करते हैं : "लोक है, लोक नहीं है ; लोक ध्रुव है, लोक ध्रुव नहीं है, लोक आदि है, लोक आदि नहीं है ; लोक सपर्यवसित है,

सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुत्ति वा असाहुत्ति वा सिद्धित्ति वा असिद्धित्ति वा निरएत्ति वा अनिरएत्ति वा।

३—जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात्

४—एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे नो सुपन्नते धम्मे भवइ

५—से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्ति बेमि

लोक अपर्यवसित है ; यह सुकृत है, यह दुष्कृत है ; यह पुण्य है, यह पाप है ; यह साधु है, यह असाधु है ; सिद्धि है, सिद्धि नहीं है ; नरक है, नरक नहीं है।"

३—इस प्रकार ये विभिन्न मतिवाले मेरा धर्म (ही सत्य है) ऐसी प्ररूपणा करते हैं। पर उनके कथन अकस्मात् हैं यह जानो।

४—इस तरह उनका कहा हुआ और प्ररूपित किया हुआ धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञापित धर्म नहीं होता।

५—अगर धर्म कहे तो जैसा आशुप्रज्ञ भगवान ने जानकर देखकर कहा है वैसा कहे अथवा वचनगोचर की गुप्ति रखे—मौन रहे।

६—सव्वत्थ संमयं पावं तमेव उवाइ
कम्म एस महं विवेगे वियाहिए

७—गामे वा अदुवा रण्णे
नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह
पवेइयं माहणेण मइमया

८—जामा तिन्नि उदाहिया जेसु इमे
आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया

९—जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं
अणियाणा ते वियाहिया

१०—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ
सव्वावंति च णं पाडियक्कं
जीवहिं कम्मसमारंभे णं

६—सर्वत्र पाप सम्मत है। उसी को मैं अतिक्रमण कर रहता हूँ—यही मेरा विवेक है।

७—मतिमान माहन ने कहा है : धर्म ग्राम में भी हो सकता है और अरण्य में भी। धर्म न ग्राम में होता है और न अरण्य में (वह आत्मा में होता है) यह समझो।

८—याम तीन कहे गये हैं जिनमें आर्य संबुद्ध हो समुत्थित होते हैं।

९—जो पाप कर्मों से निवृत्त हैं, वे निदान-रहित कहे गये हैं।

१०—ऊँची, नीची, तिरछी—इन सब दिशाओं में कर्म-समारंभ से प्रत्येक जीव को दुःख होता है।

११—तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभावेज्जा नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभ-तेऽवि समणुजाणेज्जा

१२—जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो

१३—तं परिण्णाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा दंडं णो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्ति बेमि

(श्रु० १ : अ० ८ उ० १)

११—यह जानकर मेधावी स्वयं इन पृथ्वीकायादिक जीवों के प्रति दण्डसमारम्भ न करे, दूसरे से इन जीवों के प्रति दण्डसमारंभ न करावे और यदि कोई इन जीवों के प्रति दण्डसमारंभ करता हो तो उसे अच्छा न समझे।

१२—यदि कोई अन्य व्यक्ति भी इन जीवों के प्रति दण्डसमारंभ करता है तो उससे भी हम लज्जित होते हैं।

१३– इस प्रकार समझ कर वुद्धिमान् जीवों के प्रति उस दण्ड अथवा अन्य दण्ड—किसी भी दण्ड से दण्ड-समारंभ न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

१४—मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया सुच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया

१५—समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए

१६—ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि

१७—निहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे

१४—वुद्ध पुरुषों के वचन सुन और अवधारणकर कई वुद्धिमान मध्यम वय में संवुद्ध हो, संयम में अवस्थित हुए हैं।

१५—आर्यों ने समभाव से—पक्षपात रहित हो धर्म कहा है।

१६—जो निराकांक्षी हैं, जो अतिपात—हिंसा—नहीं करते, जो अपरिग्रही हैं वे सारे लोक में किसी प्रकार का परिग्रह नहीं करते।

१७—वे प्राणियों के प्रति दण्ड—हिंसा—का त्यागकर, किसी प्रकार का पाप कर्म नहीं करते।

१८—आहारोवचया देहा परीसह पभंगुरा

१९—पासह एगे सव्विदिएहिं परिगिलाय-माणेहिं ओए

२०—दयं दयइ जे संनिहाण सत्थस्स खेयन्ने

२१—से भिक्खु कालन्ने बलन्ने मायन्ने खणन्ने विणयन्ने समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइं

(श्रु० १ : अ० ८ उ० ३)

१८—यह आहार से उपचित—पुष्ट—शरीर परिषहों के सम्मुख क्षणभंगुर होता है।

१९—देख कई सर्व इन्द्रियों से ग्लान होने पर भी ओजस्वी होते हैं।

२०—जो सन्निधान—संयम—और शस्त्र का खेदज्ञ है वह दया का पालन करता है।

२१—काल को जाननेवाला, वल को जाननेवाला, मात्रा को जाननेवाला, क्षण को जाननेवाला, विनय को जाननेवाला, समय –प्रवचन-को जाननेवाला भिक्षु परिग्रह में ममत्व नहीं रखता हुआ यथाकाल उत्थित हो निदान न करता हुआ राग और द्वेष दोनों का छेदन कर आगे बढ़ता है।

२२—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमण्णागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए। तत्थावि तस्स कालपरियाए सेऽवि तत्थ विअंति कारए इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमंनिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।

(श्रु० १ : अ० ८ उ० ४)

२३—जस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइ :— से गिलामि च खलु अहं इमंमि

२२—जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं निश्चय ही उपसर्ग से घिर गया हूँ और शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ, वह संयमी अपने समस्त ज्ञानबल से उस अकार्य को न करता हुआ, अपने को संयम में अवस्थित करे। (अगर उपसर्ग से बचने का कोई उपाय नजर नहीं आवे तो) तपस्वी के लिए श्रेय है कि वह कोई वेहासनादि अकाल मरण स्वीकार करे। निश्चय ही यह मरण भी उस साधक के लिए काल-पर्याय—समय-प्राप्त मरण है। इस मरण में भी वह साधक कर्म का अंत करनेवाला होता है। यह मरण भी मोह रहित व्यक्तियों का आयतन-स्थल रहा है। यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षम है, निःश्रेयस है और अनुगामी—पर जन्म में शुभ फल देनेवाला है।

२३—जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं इस समय ग्लान हो गया हूँ, अनुक्रम से संयम पालने के लिए

समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण
परिवहित्तए से अणुपुव्वेणं आहारं
संवट्टिज्जा। अणुपुव्वेणं आहारं
संवट्टित्ता कसाए पयणूए किच्चा
समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय
भिक्खू अभित्तिवुडच्चे, अणुपवि-
सित्ता गामं वा नगरं वा खेडं
वा कव्वडं वा मडंबं वा पट्टणं
वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं
वा संणिवेसं वा णिगमं वा
रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा।
तणाइ जाइत्ता से तमायाए
एगंत मवक्कमिज्जा। एगंत मव-

इस शरीर को परिवहन करने में असमर्थ हूँ, वह अनुक्रम से आहार को घटावे, और ऐसा करके कषायों को क्षीण करे। फिर समाहित हो फलक की तरह स्थिर चित्त हो मृत्यु के लिए प्रस्तुत होकर शरीर-त्याग करे। वह ग्राम अथवा नगर, खेट अथवा कर्वट, मडम्ब अथवा पत्तन, द्रोणमुख अथवा आकर, आश्रम अथवा सन्निवेष, निगम अथवा राजधानी में प्रवेश कर तृणों की याचना करे। तृणों की याचना करके वह साधु उसको लेकर एकान्त में जाय।

क्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्प
वीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पो-
दए अप्पुत्तिगपणगदगमट्टियमक्कडा-
संताणए पडिलेहिय २ पमज्जिय २
तणाइं संथरिज्जा। तणाइं संथरित्ता
एत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा।

तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने
छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए
चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय
विरुवरुवे परीसहोवसग्गे अस्सि
विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने।
तत्थावि तस्स कालपरियाए सेवि
तत्थ वियंतिकारए।

एकान्त में जाकर अण्डों से रहित, प्राणियों से रहित, वीजों से रहित, हरित से रहित, ओस से रहित, जल से रहित, कीड़ी-नगर, लीलन-फूलन—काई, उदक मिट्टी और मकड़ी के जालों से रहित स्थान को अच्छी तरह देखकर तथा उस स्थान का परिमार्जन कर तृणों को विछावे। तृणों को विछाकर वहाँ उस समय इंगित मरण करे।

सत्यवादी, ओजस्वी, संसार सागर से उत्तीर्ण, असार कथा का त्यागी, पदार्थों को जाननेवाला और संसार से मुक्त भिक्षु इस क्षणभंगुर शरीर के ममत्व का त्याग करे, नाना प्रकार के परिषह-उपसर्गों को सहन करता हुआ तथा भगवद्र कथित वाणी में विश्वास रखता हुआ, इस सत्य, भैरव—दुश्चीर्ण—मरण को अपनावे। निश्चय ही यह मरण भी उस साधक के लिए काल-पर्याय—समय-प्राप्त मरण है। इस मरण में भी वह साधक कर्म का अन्त करनेवाला होता है।

इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं
खेमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।
(श्रु० १ : अ० ८ उ० ६)

२४—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ :—
से गिलामि च खलु अहं इमंमि
समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण
परिवहित्तए ··· तणाइं संथरिज्जा
इत्थवि समए कायं च जोगं च
ईरियं च पच्चक्खाइज्जा
तं सच्चं सच्चावाइ ··· अनु-
गामियं त्ति बेमि
श्रु० १ : अ० ८ उ० ७)

यह मरण भी मोह-रहित व्यक्तियों का आश्रय-स्थल रहा है। यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकर है, निःश्रेयस है और अनुगामी है—पर जन्म में भी शुभ फल देनेवाला है। ऐसा मैं कहता हूँ।

२४—जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं इस समय ग्लान हो गया हूँ, अनुक्रम से संयम पालन के लिए इस शरीर को परिवहन करने में असमर्थ हूँ, वह तृणों को बिछावे। वहाँ उस समय शरीर का, योग का, ईर्या का प्रत्याख्यान करे।

सत्यवादी, ओजस्वी...दुश्चीर्ण मरण को अपनावे। निश्चय ही यह मरण भी...निःश्रेयस है और अनुगामी है—पर जन्म में भी शुभ फल देनेवाला है। ऐसा मैं कहता हूँ।

२५—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा असणं वा (४) आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे। से अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ। जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

(श्रु १ : अ० ८ उ० ६)

२६—जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-चाएमि अहं

२५—भिक्षु अथवा भिक्षुणी असनादिक का आहार करते हुए स्वाद लेने के लिए उस आहार को वायें गाल से दाहिने गाल की ओर न ले जावे, और न स्वाद के लिए दक्षिण गाल से वायें गाल की ओर ले जाय। स्वाद न लेने से लाघवता प्राप्त होती है। तप भी प्राप्त होता है। भगवान ने जो कहा है, उसे ही जानकर, सर्व प्रकार से समभाव को जानते हुए रहे।

•

२६—जो भिक्षु अचेलक हो उसे यदि ऐसा हो कि मैं तृण स्पर्श को सह सकता हूँ, शीत स्पर्श को सह सकता

तणफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहिया-सित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए एवं से कप्पेइ कडिबंधणं धारित्तए

२७—अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ

हूँ, ताप स्पर्श को सह सकता हूँ, दंश-मशक-स्पर्श को सह सकता हूँ तथा अन्य भी अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श सह सकता हूँ, पर नग्न रहने का परिषह नहीं सहन कर सकता तो उसे कटि-बंधन धारण करना कल्पता है।

२७—अथवा लज्जा को जीत सकता हो तो अचेल ही रहे। उस प्रकार रहते हुए तृण-स्पर्श, शीत-स्पर्श, तेज-स्पर्श, दंश-मशक-स्पर्श तथा ऐसे ही अन्य विविध प्रकार के स्पर्श स्पर्श करें—आ घेरें—तो उन्हें सहन करे।

अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्ना गए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया

(श्रु० १ : अ० ८ उ० ७)

२८—जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि।

से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा। अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो धोयरत्ताइं

इससे लाघवता प्राप्त होती है और तप भी प्राप्त होता है। भगवान ने जो कहा है, उसे ही जानकर, सर्व प्रकार से समभाव को जानते हुए रहे।

२८—जो भिक्षु तीन वस्त्र और चतुर्थ पात्र से रहता है, उसके ऐसा विचार नहीं होता कि मैं चतुर्थ वस्त्र की याचना करूँगा।

वह भिक्षु एषणीय वस्त्र की याचना करे।

भिक्षु मिले हों वैसे ही वस्त्र धारण करे। वस्त्र न धोवे। धोये हुए और रंगे हुए वस्त्रों को धारण न करे। ग्रामान्तर

वत्थाइं धारिज्जा अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एवं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

२६—अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा अदुवा संतरूतरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा (श्रु० १ : अ० ८ उ० ४:)

जाते हुए गोपन न करते हुए अल्प वस्त्रधारी हो। निश्चय ही यह वस्त्रधारी की सामग्री—उसका आचार है।

२९—अनन्तर ऐसा जानकर कि हेमन्त ऋतु बीत गई है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, भिक्षु परिजीर्ण वस्त्रों को परठ दे, अथवा पास ही रखे, अथवा कुछ रखे, अथवा एक साटिक हो जाय, अथवा अचेलक हो जाय।

इस तरह लाघवता होती है, तप होता है।

यह जो सब भगवान् ने कहा है उसे ही जानकर सर्वतः सर्व प्रकार से समभाव को जाने।

३०—से वेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा पायपुंछणं वा नो पादेज्जा नो निमंतिज्जा नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति वेमि।

३१—धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुंछणं वा लभिया नो लभिया भुंजिया णो भुंजिया पंथं विउत्ता विउवकम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाइज्जा वा निमंतिज्जा वा कुज्जा

३०—मैं कहता हूँ—मुनि समनोज्ञ अथवा असमनोज्ञ असंयति को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, प्रतिग्रह और पादपुच्छन न दे, न उनके लिए उसे निमन्त्रित करे और न परम आदर से उसकी वैयावृत्य करे।

३१—यह भी ध्रुव जानो—अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, प्रतिग्रह अथवा पादपोंछ मिला हो या न मिला हो, भोगा हो या न भोगा हो, पथ को छोड़ कर जाने से अन्य धर्म को मानने वाला असंयति मुनि जाते समय

वेयावडियं परं अणाढायमाणे
त्ति बेमि (श्रु० १ : अ० ८ उ० १)

३२—से समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं
वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा
वत्थं वा कंबलं वा पडिग्गहं वा
पायपुंछणं वा नो पाएज्जा नो निमं-
तिज्जा नो कुज्जा वेयावडियं परं
आढायमाणे त्ति बेमि।

३३—समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा
(४) वत्थं वा (४) पाएज्जा
णिमंतेज्जा कुज्जा वेयावडियं परं
आढायमाणे त्ति
(श्रु० १ : अ० ८ उ० २)

या आते समय कुछ दे या देने के लिए निमंत्रित करे अथवा वैयावृत्य करे तो उसे स्वीकार न करे।

३२—समनोज्ञ मुनि असमनोज्ञ को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य न दे, न देने के लिए निमन्त्रित करे और न परम आदर से उसकी वैयावृत्य करे।

३३—समनोज्ञ मुनि समनोज्ञ मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, प्रतिग्रह और पादपुंछन देने के लिए निमन्त्रित करे और परम आदर भाव से उसकी वैयावृत्य करे।

३४—से भिक्खू परक्कमिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा निसीइज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्ख-मूलंसि वा कुंभारायययणंसि वा हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पाय-पुच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह वसह। आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं

३४—श्मशान में, शून्यागार में, गिरि-गुहा में, वृक्ष के मूल में, कुम्हार के आयतन में अथवा अन्य कहीं साधना करते हुए, वैठते, विश्रांति लेते या विहरते हुए भिक्षु के समीप आकर कोई गाथापति कहे : आयुष्मान् श्रमण। मैं आपके लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारंभ कर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, प्रतिग्रह, कंवल अथवा पादपोंछन वनाकर या आपके लिए खरीद-कर, अथवा उधार लाकर, अथवा दूसरे से छीनकर, अथवा दूसरे की अनुमति विना लेकर अथवा कहीं से लाकर आपको देता हूँ अथवा आपके लिए आवास चिनाता हूँ, आप इन्हें भोगें और इसमें रहें तो हे आयुष्मान् श्रमणो। वह भिक्षु उस समन सवयस्क गाथापतिसे कहे :

सवयसं पडियाइक्खे : आउसंतो ! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि नो खलु ते वयणं परिजाणामि जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा (४) वत्थ वा (४) पाणाइं वा (४) समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि। से विरओ आउसो गाहावई ! एयस्स अकरणयाए

३५—से भिक्खुं परक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा (४) वत्थं वा (४) जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ भिक्खू परिघासेउं

आयुष्मान् गाथापति ! तुमजो मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र,प्रतिग्रह, कंवल, पादपोंछन प्राणी, भूत जीव, और सत्त्वों का आरंभ कर करना चाहते हो अथवा खरीदकर, अथवा उधार लाकर, अथवा दूसरे से छीनकर, अथवा दूसरे की अनुमति विना लाकर, अथवा कहीं से मेरे यहाँ लाकर मुझको देना चाहते हो, अथवा आवास चिनाना चाहते हो सो मैं तुम्हारे इन वचन को आदर नहीं देता, उन्हें स्वीकार नहीं करता । हे आयुष्मान् गाथापति ! इन वातों को न करने के लिए ही तो मैं विरत हुआ हूँ ।

३५ – श्मशान में, शून्य आगार में, गिरि-गुहा में, वृक्ष के मूल में, कुम्हार के आयतन में अथवा अन्य कहीं साधना करते हुए, रहते, वैठते, विश्रांति लेते या विहरते हुए भिक्षु को देखकर, आत्मा में विचारकर उसके भोजन या रहने के लिए प्राणी, भूत, जीवों और सत्त्वों का आरंभ

तं च भिक्खू जाणिज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा : अयं खलु गाहावई ममअट्ठाए असणं वा (४) वत्थं वा जाव चेएसि आवसहं वा समुस्सिणाइ तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि

३६—भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति से हंता हणह खणह छिंदह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाकारेह विप्परामुसह। ते फासे धीरो

कर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र; प्रतिग्रह, कंवल अथवा पादपोंछन वनावे अथवा उसके लिए खरीद करे, अथवा उधार लावे, अथवा दूसरे से छीनकर अथवा दूसरे की अनुमति विना लेवे, अथवा कहीं से लाकर देवे, अथवा उसके लिए आवास चिनाये—मकान वनवाये और उस भिक्षु को अपनी वुद्धि से, दूसरे के कहने से अथवा दूसरे से सुनकर यह वात मालूम हो कि वह गाथापति उसके लिए वैसा कर रहा है तो वह अच्छी तरह जाँचकर, जानकर गृहस्थ को मना करे—ऐसा आहार या मकान मेरे लिए अनेषणीय है—अभोग्य है। ऐसा मैं कहता हूँ।

३६—कोई गाथापति भिक्षुसे पूछकर अथवा विना पूछे महा अर्थ-व्यय कर आहारादि वनाये और भिक्षु के ग्रहण न करने पर क्रोधित हो शायद उसे पीटे, अथवा कहे—इसे मारो, पीटो, काटो, जलावो, पकावो, लूटो, छीनो,

पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्किया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयतगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं। (श्रु० १ : अ० ८ उ २)

३७—तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया : आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए। नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा, अन्नेसिं वा वयणाओ

मार डालो अथवा अनेक तरह से तंग करे तो इस तरह संकट में पड़ा हुआ वह धीर मुनि सब सहन करे अथवा तर्कपूर्वक अपना आचारगोचर बतलावे अथवा मौन रह आत्मगुप्त हो गोचरी की अनुक्रम से शुद्धि करता हुआ विचरे। ऐसा मुनि ने कहा है।

३७—उस भिक्षु का शरीर शीत से काँपता देख गाथापति कहे—हे आयुष्मान् श्रमण! कहीं आपको इन्द्रिय-विषय तो पीड़ित नहीं कर रहे हैं, तो मुनि कहे: आयुष्मान् गाथापति! निश्चय ही मुझे ग्राम-विषय नहीं सताते। शीत के स्पर्श को मैं सहन नहीं कर सकता। मुझे अग्निकाय जलाना या प्रज्वलित करना नहीं कल्पता। मैं आग भी नहीं ताप सकता। न अन्य को कहकर ऐसा कराना कल्पता है।

सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि

(श्रु० १ : अ० ८ उ० ३)

३८—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ : पुट्ठो अवलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा (४) आहट्टु दलइज्जा से पुव्वामेव आलोइज्जा : आउसंतो ! णो

कदाचित् मुनि के ऐसा कहने पर वह गाथापति अग्निकाय उज्वलित कर प्रज्वलित करे, उसके शरीर को आतापित करे, प्रतापित करे तो भिक्षु यह कहे—अग्नि-सेवन मेरे लिए अकल्पनीय है। ऐसा मैं कहता हूँ।

३८—यदि भिक्षु के मन में ऐसा हो कि मैं संकट में आ पड़ा हूँ, निर्वल हूँ और घर-घर संक्रमणकर भिक्षा-चर्या करने में असमर्थ हूँ और उसे ऐसा कहते सुनकर कोई गृहस्थ अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर देना चाहे तो वह भिक्षु पहले ही कहे—आयुष्मान् गाथापति! मेरे लिए

खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं वा (४) भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे.

(श्रु० १ : अ० ८ उ० ५)

३६—अणुपुव्वेण विमोहाइं,
जाइं धीरा समासज्ज ।
वसुमंतो मइमंतो,
सव्वं नच्चा अणेलिसं ॥

४०—दुविहंपि विइत्ताणं,
बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
अणुपुव्वीइ सङ्खाए,
आरंभाओ तिउट्टई ॥

सम्मुख लाया हुआ अशन आदि अथवा अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करना या खाना पीना नहीं कल्पता।

३९—संयमी, प्राज्ञ और धीर पुरुष अनुपूर्वी से (साधना करता हुआ) सभी अनुपम धार्मिक मरणों को जान, मोह रहित मरणों में से (शक्ति अनुसार) किसी एक को अपना (समाधिमरण करे)।

४०—धर्म के पारगामी वुद्ध पुरुष पंडित और अपंडित द्विविध मरणों को समझ, यथा क्रम से संयम का पालन करते हुए, मृत्यु के समय को जान आरम्भों से निवृत्त होते हैं।

४१—कसाए पयणू किच्चा,
अप्पाहारे तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाइज्जा,
आहारस्सेव अन्तियं ॥

४२—जीवियं नाभिकङ्खेज्जा,
मरणं नोवि पत्थए ।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा,
जीविए मरणे तहा ॥

४३—मज्झत्थो निज्जरापेही,
समाहिमणुपालए ।
अंतो वहिं विऊस्सिज्ज,
अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥

४१—वह कषायों को प्रतनु—क्षीण कर अल्पाहार करता हुआ रहे, तथा तितिक्षा भाव रखे। जब भिक्षु ग्लान हो तो वह आहार के समीप न जाय—उसका सर्वथा त्याग कर दे।

४२—वह जीने की आकांक्षा न करे और न मरने की ही प्रार्थना—कामना—करे। वह जीवन और मृत्यु दोनों में ही आसक्त न हो।

४३—वह समभाव में स्थित हो, निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ समाधि का पालन करे। अभ्यन्तर और बाह्य ममत्व का त्याग कर वह विशुद्ध अध्यात्म का अन्वेषण करे।

४४—जं किंचुवक्कमं जाणे,
आऊ खेमस्समप्पणो ।
तस्सेव अन्तरद्धाए,
खिप्पं सिक्खिज्ज पण्डिए ॥

४५—गामे वा अदुवा रण्णे,
थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाणं तु विन्नाय,
तणाइं संथरे मुणी ॥

४६—अणाहारो तुयट्टिज्जा,
पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
नाइवेलं उवचरे,
माणुस्सेहि विपुट्ठवं ॥

४४—यदि उसे अपने आयु-क्षेम में किंचित् भी विघ्न मालूम दे तो उसके अंतर काल में पण्डित साधक शीघ्र ही भक्त-परिज्ञा आदि को ग्रहण करे।

४५-४६—ग्राम अथवा अरण्य में प्रासुक भूमि का प्रतिलेखन कर प्राणि-रहित जगह जान मुनि तृण बिछावे। आहार का त्याग कर तृणों पर शयन करे, वहाँ परिषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे और मानुपिक उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर मर्यादा का उलंघन न करे।

४७—संसप्पगा य जे पाणा,
जे य उड्ढमहाचरा।
भुञ्जंति मंससोणियं,
न छणे न पमज्जए॥

४८—पाणा देहं विहिंसंति,
ठाणाओ नवि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं,
तिप्पमाणोऽहियासए॥

४९—गन्थेहिं विवित्तेहिं,
आउकालस्स पारए।
पग्गहियतरगं चेयं,
दवियस्स वियाणओ॥

४७—सरीसृप, ऊर्ध्वचर अथवा अधःचर प्राणी मांस को नोचे अथवा शोणित का पान करें, तो उनको न मारे और न उन्हें दूर करे।

४८—जीव जन्तु देह की हिंसा करते हों, तब भी मुनि उस स्थान से अन्यत्र न जावे। हिंसा आदि आश्रवों से दूर रहकर तुष्ट हृदय से कष्टों को सहन करे।

४९—वाह्य और अभ्यन्तर ग्रंथियों से दूर रह कर समाधिपूर्वक आयुष्य को पूरा करे। गीतार्थ संयमी के लिए यह दूसरा इंगित मरण विशेष ग्राह्य है।

५०—अयं से अवरे धम्मे,
नायपुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं,
विज्जहिज्जा तिहा तिहा॥

५१—हरिएसु न निवज्जिज्जा,
थण्डिलं मुणिया सए।
विओसिज्ज अणाहारो,
पुट्ठो तत्थऽहियासए॥

५२—इन्दिएहिं गिलायंतो,
समियं आहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे,
अचले जे समाहिए॥

५०—ज्ञातपुत्र के द्वारा अच्छी तरह कहा गया दूसरा इंगित मरण धर्म है, इसमें खुद को छोड़ अन्य से प्रतिचार—सेवा—कराने का त्रियोग से त्याग करे।

५१—मुनि हरित—दूर्वादियुक्त भूमि—आदि पर न सोवे। भूमि को प्रासुक जानकर सोवे। शरीर को व्युत्सर्ग कर अनशन करे। वहां उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर सहन करे।

५२—(निराहार के कारण) इन्द्रियों के ग्लान होने पर मुनि चित्त के स्थैर्य को रखे। इंगित मरण में अपने स्थान में हलन-चलन आदि करता हुआ वह निन्द्य नहीं होता, यदि वह भावना में अचल और समाहित होता है।

५३—अभिक्कमे पडिक्मे,
सङ्कुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए,
इत्थंवावि अचेयणो॥

५४—परिक्मे परिकिलंते,
अदुवा चिट्ठे अहायए।
ठाणे ण परिकिलंते,
निसीइज्जा य अंतसो॥

५५—आसीणेऽणेलिसं मरणं,
इन्दियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज,
वितहं पाउरे सए॥

५३—इंगित मरण में मुनि काया को सहारा देने के लिए चक्रमण करे, टहले, अंगोपांगों को संकुचित करे, प्रसारित करे, अथवा इसमें भी अचेतन जडवत् निश्चल रहे।

५४—परिक्रान्त होने पर वह टहले, अथवा यथावत् खड़ा रहे। यदि खड़ा रहने से परिक्रान्त हो, तो वह अन्त में पुनः बैठे।

५५—अनुपम मरण में आसीन मुनि इन्द्रियों को विषयों से हटावे, घुन वाले पाटे के प्राप्त होने पर अन्य जीव रहित पाटे की गवेषणा करें।

५६—जओ वंज्जं समुप्पज्जे,
न तत्थ अवलम्बए ।
तउ उक्कसे अप्पाणं,
फासे तत्थऽहियासए ॥

५७—अयं चाययतरे सिया,
जो एवमणुपालए ।
सव्वगायनिरोहेऽवि,
ठाणाओ नवि उब्भमे ॥

५८—अयं से उत्तमे धम्मे,
पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे ।
अचिरं पडिलेहित्ता,
विहरे चिट्ठ माहणे ॥

५६ – जिससे पाप की उत्पत्ति हो, उसका अवलम्वन न करे। पाप कार्यों से वच अपनी आत्मा का उत्कर्ष करे। परिषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।

५७—अव आगे कहा जानेवाला पादोपगमन मरण इंगित मरण से भी वढ़कर है। जो इसका पालन करता है, वह सारे अङ्गों के जकड़ जाने पर भी अपने स्थान से किंचित् मात्र भी नहीं हटता।

५८—यह आत्मधर्म पादोपगमन मरण पूर्व-कथित मरणों से भी विशेष रूप से ग्राह्य है। प्रासुक भूमि को देख माहन—मुनि, वहीं रह पादोपगमन मरण का पालन करे।

५९—अचित्तं तु समासज्ज,
ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं,
न मे देहे परीसहा ॥

६०—यावज्जीवं परीसहा,
उवसग्गा इति सङ्खया।
संवुडे देह भेयाए,
इय पन्नेऽहियासए ॥

६१—भेउरेसु न रज्जिज्जा,
कामेसु बहुतरेसुवि।
इच्छा लोभं न सेविज्जा,
धुववन्नं सपेहिया ॥

५९—अचित्त स्थान को प्राप्तकर वहाँ अपने आपको स्थित करे। काया को सर्वशः व्युत्सर्ग करे और परिषहों के आने पर सोचे : मेरे शरीर में परीषह नहीं है।

६०—जब तक यह जीवन है तब तक ये परीषह और उपसर्ग हैं, ऐसा जानकर देह-भेद के लिए संवृत, प्राज्ञ उनको समभाव से सहन करे।

६१—वह नश्वर विपुल कामभोगों में रंजित न हो। ध्रुव-वर्ण—मोक्ष—की ओर दृष्टि रख, वह इच्छा और लोभ का सेवन न करे।

६२—सासएहिं निमन्तिज्जा,
दिव्वंमायं न सद्दहे ।
तं पडिबुज्झ माहणे
सव्वं नूमं विहूणिया ॥

६३—सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए,
आउकालस्स पारए ।
तितिक्खं परमं नच्चा,
विमोहन्नयरं हियं ॥
त्तिबेमि ॥

६२—कोई जीवनपर्यन्त नहीं नाश होनेवाले शाश्वत ऐश्वर्य के लिए निमंत्रित करे, तो भी मुनि उस देव माया में विश्वास न करे। हे माहन! उसको अच्छी तरह समझ, सब प्रपंच का त्याग कर।

६३—सर्व इन्द्रिय विषयों में मूर्छित न होता हुआ, वह आयुष्य को पूर्ण करे। तितिक्षा को परम धर्म समझ मोह रहित मरणों में से किसी एक को धारण करना, अत्यन्त हितकर है। ऐसा मैं कहता हूँ।